श्री काशी संस्कृत ग्रन्थमाला २३२

श्रीनीलकण्ठदीक्षितप्रणीतं

गङ्गावतरणम्

डॉ० श्रीरमापतिमिश्रः

चौखम्भा संस्कृत संस्थान
पोस्ट बाक्स ११३९
वाराणसी

|| श्रीः ||

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला
२३२

श्रीनीलकण्ठदीक्षितप्रणीतं

गङ्गावतरणम्

"कमला" हिन्दीव्याख्याविभूषितम्

हिन्दीव्याख्याकारः
डॉ० श्रीरमापतिमिश्रः

सम्पादकः
डॉ० कपिलदेव गिरि
एम. ए., पीएच. डी.

चौखम्भा संस्कृत संस्थान
भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक
पो० आ० चौखम्भा, पो० बा० नं० ११३९
जड़ाव भवन, के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी (भारत)

प्रकाशक : चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी
संस्करण : प्रथम, वि० संवत् २०४२
मूल्य : रु० ३०-००

© चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
इस ग्रन्थ के परिष्कृत तथा परिवर्धित मूल-पाठ
एवं टीका, परिशिष्ट आदि के सर्वाधिकार
प्रकाशक के अधीन हैं।

फोन : ६५८८९

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्भा विश्वभारती
पोस्ट बाक्स नं० १०८४
चौक (चित्रा सिनेमा के सामने)
वाराणसी-२२१००१ (भारत)
फोन : ६५४४४

THE
KASHI SANSKRIT SERIES
232

THE

GANGĀVATARAṆM

OF

NĪLAKAṆṬHA DĪKṢIT

With the
'Kamlā' Hindi Commentary

By
Dr. RAMAPATI MISHRA

Edited
Dr. KAPIL DEO GIRI
Sahityacharya, M. A., Ph. D.

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN
Publishers and Distributors of Oriental Cultural Literature
P. O. Chaukhambha, P. Box No. 1139
Jadau Bhawan, K. 37/116, Gopal Mandir Lane
VARANASI-221001 (INDIA)

© *Chaukhambha Sanskrit Sansthan, Varanasi*

Phone : 65889

First Edition : 1985

Price Rs. 30–00

Also can be had of

CHAUKHAMBHA VISVABHARATI

Post Box No. 1084

Chowk (Opposite Chitra Cinema)

VARANASI–221001

Phone : 65444

प्राक्कथन

लेखनी उठाते ही बाल्यकाल की एक सत्यकथा का स्मरण हो आया। शृङ्गवेरपुर (प्रयाग) से लगभग दो किलोमीटर पश्चिम 'अखैराजपुर गढ़वा' नामक गङ्गातटवर्ती ग्राम में उस समय मेरा अबोध शैशव चल रहा था। घर में पिता जी का आदेश था कि गङ्गा स्नान के पश्चात् ही सभी लोग भोजन करें। ग्रीष्म काल में एक दिन संयोग वश मुझे छोड़कर सभी स्नान से निवृत्त हो चुके थे। भूख के कारण खेल बन्द करके भोजन की याचना करने पर माँ ने कहा—'अभी तू ने स्नान नहीं किया ?' हास्योत्तरित रूप में इतना कहकर वे घरेलू कार्य में व्यस्त हो गयीं। इधर मैं अकेले ही गङ्गा स्नान के लिये निकल पड़ा। मध्याह्नकालिक सन्तप्त बालुका तट पर पहुँचते ही मैं व्याकुलता के कारण वहीं पैर पटकने लगा। तत्क्षण ही मैंने अपनी कमीज उतारी और उस पर बैठकर फिसलने लगा कि समीपस्थ पंचवटी नामक स्थान पर तपस्यारत पिता जी ने मुझे देखा और दौड़ते हुए आये। मुझे गोद में उठाकर स्नान कराया, साथ लेकर घर आये। सामान्य महाभारत के बाद माता-पिता ने सामूहिक शान्ति पाठ किया। आज भी कभी-कभी पिता जी इस बाल-कथा को सुनाया करते हैं।

गङ्गा स्नान से सम्बन्धित एक अन्य दिलचस्प घटना पन्द्रह वर्ष की अवस्था में घटी। शीतकाल में मैं कम्बल ओढ़कर नित्य गङ्गा स्नान के लिये एकान्त में जाता और चन्दन लगाकर लौट आता। एक दिन चन्दन ने विलक्षण चमत्कार किया। मैं अपने अनुजाग्रजों के साथ पढ़ने हेतु शृङ्गवेर-पुर जा रहा था। मध्यस्थ 'वटना' नामक गाँव में गन्ने की पेराई हो रही थी। अचानक एक व्यक्ति ने मुझे सादर आमन्त्रित किया और 'पण्डित' शब्द से सम्बोधित करते हुये एक विशद पात्र (लोहा) में इक्षु रस का पान कराया। मेरे अन्य बन्धुओं को गन्ने का एक टुकड़ा भी नहीं दिया। आज जब कभी

इस घटना का स्मरण होता है तो गङ्गारज की प्रमाणिक भूमिका उपस्थित करने वाले कवि विल्हण की यह सूक्ति सहसा याद आ जाती है :—

'के वा न शुष्कां मृदमभ्रसिन्धुसम्बन्धिनीं मूर्धनि धारयन्ति'।

उपर्युक्त दोनों घटनाओं से निश्चय ही गङ्गामैया की अहेतुकी अनुकम्पा प्राप्त करने वाला मैं विलक्षण भाग्यशाली हूँ। उन्हीं की प्रेरणा और कृपा ही इस पुनीत कार्य में प्रवृत्ति का कारण है। ममतामयी माँ 'कमला' की बाल्यकालिक वह उक्ति भी स्तुत्य है जिसे मैंने पूर्वोक्त प्रथम घटना में संकेतित किया है। उन्हीं पूजनीया माँ की स्मृति में 'कमला-व्याख्या' के साथ यह महाकाव्य प्रकाशित हो रहा है। गङ्गाजल की स्वतः पवित्रता की तरह गङ्गा की महिमा सर्वविदित होने से मेरा यह प्रयास सर्वथा महत्त्वहीन है ऐसी स्थिति में मेरा यह कार्य स्वान्तः सुखदानुभूति के लिए अनिर्वचनीया प्रवृत्ति का प्रयोजन है। कविवर नीलकण्ठ दीक्षित के अनुसार यहाँ यही कहना उचित प्रतीत हो रहा है—

सति सह्यसुतातीरे सति त्र्यम्बकशीलने।
गन्तुं निश्चितवानस्मि गङ्गां केनापि हेतुना ॥

गङ्गादशहरा
"संयोग"
गान्धीगंज, कर्वी

रमापति मिश्र

भूमिका

पुरुषार्थ को प्राप्त करना ही मनुष्य के जीवन की सार्थकता है इसके लिये अनेक साधना मार्गों का उल्लेख किया गया है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी चारों पुरुषार्थ वेदशास्त्रों की नीरसता के कारण परिपक्व बुद्धि-शालियों को बड़ी कठिनाई से प्राप्त होते हैं। इनकी अपेक्षा सामान्य बौद्धिकों को भी बड़ी सरलता और सरसता के साथ काव्य के द्वारा पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है। काव्य के द्वारा ही मनुष्य में राम के आचरण की प्रवृत्ति और रावण के दुराचरण से निवृत्ति की प्रेरणा मिलती है।[1] काव्य से धार्मिक प्रवृत्ति के कारण कालिदास जैसे कवि यशस्वी हुये, हर्षादि राजाओं से धावकादि कवियों को पर्याप्त अर्थ लाभ हुआ, काव्य से ही व्यावहारिक ज्ञान, अनिष्ट की निवृत्ति, दु:ख से तत्क्षण मुक्ति तथा अच्छा कार्य करने की प्रेरणा मिलती हैं।[2] इसी आधार पर मानव का जीवन प्रशंननीय एवं उसके विपरीत होने पर निन्दनीय होता है। यदि मनुष्य को सर्वदा अपनी वास्तविक स्थिति का परिज्ञान रहे तो यह किसी भी तरह दुष्कर्म में नहीं प्रवृत्त हो सकता। दैनिक आचरण के अनुसार ही उसका कार्यक्षेत्र निश्चित हो जाता है और वह अपने कार्यों का शुभाशुभ परिणाम प्राप्त करते हुये विधि की निर्धारित व्यवस्था के अनुसार अपना अस्तित्व सुरक्षित रखने में प्रयत्नशील रहता है। काव्य के प्रभाव से वह किसी भी दशा में समाज के अमर्यादित कार्यों में अभिरुचि का अनुभव नहीं करता। काव्य की यही सबसे बड़ी उपादेयता है। वह मनुष्य को देवता बनने की प्रेरणा देता है, राक्षस बनने की नहीं।

हिंसा करने वाला व्यक्ति अपने पाप से ही नष्ट हो जाता है जब कि समतावादी साधु पुरुष सर्वत्र प्रतिष्ठा को प्राप्त करता हुआ निर्भय होकर

---

१. विश्वनाथ-साहित्यदर्पण—

चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते॥

रामादिवत्प्रवर्तितव्यम् न रावणादिवत्।

२. मम्मट—काव्यप्रकाश—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥

विचरण करता है ।[१] विद्वत्ता की परिपूर्णता होने पर भी साधुता के अभाव में किसी को लोकप्रिय प्रतिष्ठा नहीं मिल सकती । विद्वान् होकर भी रावण की असाधुता और विद्वत्ता के अभाव में भी राम की साधुता सर्वविदित है । लौकिक काव्य का प्रथमावतरण करने वाले आदिकवि वाल्मीकि को 'चारित्रेण च को युक्तः' के अनुसार किसी दुराचारी दैत्य की नहीं अपितु किसी चरित्रवान् मर्यादापुरुषोत्तम की तलाश थी । अतः चरित्र की प्रधानता ही मनुष्य की सबसे बड़ी विशेषता है ।

गङ्गा की महत्ता—

गङ्गा के महत्त्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' के पारम्परिक अनुयायियों को भी विना किसी परिश्रम के गङ्गाजल से मोक्ष रूपी पुरुषार्थ की प्राप्ति हो जाती है । लोग ज्ञान की परम्परा को भूलकर गङ्गा के दर्शनमात्र से मुक्ति की घोषणा करने लगते हैं । यह आज का नहीं, बहुत पुराना सिद्धान्त है । महाकवि कालिदास का निम्नलिखित प्रमाण प्रस्तुत है—

समुद्रपत्न्योर्जलसन्निपाते पूतात्मनामत्र किलाभिषेकात् ।
तत्त्वावबोधेन विनाऽपि भूयस्तनुत्यजां नास्ति शरीरबन्धः ॥[२]

प्रयाग में संगम के अवसर पर यात्रियों का जैसा विशाल समागम होता है वैसा विश्व में कहीं नहीं होता । इससे गङ्गा के प्रति लोगों के हृदय में श्रद्धा-भावना का मूल्यांकन किया जा सकता है । 'औषधं जाह्नवीतोयम्' के अनुसार गङ्गा जल से मानव को सभी रोगों से मुक्ति मिलती है[३] । तभी तो पण्डितराज जगन्नाथ ने गङ्गातट के लिये चक्रवर्तीसाम्राज्य को भी तृण की तरह त्याज्य माना है—

---

१. हिंस्रः स्वपापेन विहिंसितः खलः
साधुः समत्वेन भयाद्विमुच्यते । 'भागवतम्'

२. कालिदास–रघुवंशमहाकाव्य–१३-५८

३. पूज्य श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारी जी महाराज ने अपने आश्रम में रहनेवाले अल्मोड़ा निवासी रमेश चन्द्र पाण्डेय को नित्य गङ्गा स्नान करने और गङ्गाजल पीने के लिये आदेश दिया था । उस समय श्रीपाण्डेय लकवा जैसी बीमारी से अत्यन्त पीड़ित होने से आश्रम के समीप गङ्गा तट पर बड़ी कठिनाई से पहुँच पाते थे । महाराज जी के आदेश से कई वर्षों तक नियमित रूप में गङ्गा स्नान-पान में वे आज स्वस्थ विचरण कर रहे हैं तथा संगीतज्ञ के रूप में प्रतिष्ठित हैं ।

अपि प्राज्यं राज्यं तृणमिव परित्यज्य सहसा
विलोलद्वानीरं तव जननि तीरं श्रितवताम् ।[1]

उस समय यवनकन्या के कारण पण्डित-सभा से अपमानित होने पर पण्डितराज को कहीं शान्ति नहीं मिली । काशी घाट पर आकर उन्होंने कहा– हे माँ ! इस समय मैं अनाथ हूँ । अब तुम्हीं बताओ किसके आगे रुदन करूँ—

निराधारः केषामिह कथय हा रोदिमि पुरः ।

अन्ततो गत्वा गङ्गा जी ने पण्डितराज को विशुद्ध प्रमाणित करते हुये उन्हें आत्मसात कर लिया ।

गङ्गावतरणम् —

दाक्षिणात्य महाकवि श्री नीलकण्ठ दीक्षित का संस्कृत साहित्य में महत्त्व-पूर्ण स्थान है । इन्होंने अपनी वैदुष्यपूर्ण रचनाओं से संस्कृत की साहित्यिक अभिवृद्धि में महान् योगदान किया है । 'शिवलीलार्णव' नामक महाकाव्य इनकी सर्वाधिक विशद रचना है । इसमें २२ सर्गों में शिव जी की विलक्षण लीलाओं का विस्तृत वर्णन हैं । 'नलचरित्रम्, कविविडम्बनम्' इनकी नाट्य-रचनायें हैं । पौराणिक आधार पर गङ्गावतरण नामक अष्टसर्गात्मक महाकाव्य में कविवर दीक्षित ने गंगा के भूमण्डल पर उतरने के लिये राजा-भगीरथ का आनुवंशिक वर्णन करते हुये । अलंकृत वैदर्भी शैली में भगीरथ के सफल प्रयास का मनोरम चित्रण किया है । ग्रन्थ के प्रारम्भ में देववन्दना के साथ कवि ने अपने वंश का वर्णन भी किया है । विल्हण और पण्डितराज जगन्नाथ की तरह कविवर दीक्षित भी बड़े स्वाभिमानी कवि हैं । जहाँ विल्हण ने राजाओं को चेतावनी दी है कि वे कभी भी कवियों को क्रुद्ध न करें[2] वहीं कविवर दीक्षित ने स्वयं राजा होने पर पृथ्वी को दुष्कवियों के अंकुर से रहित करने की प्रतिज्ञा की है ।[3] गङ्गा के महत्त्व में दोनों कवयों का समान दृष्टिकोण है । विल्हण के अनुसार—

---

१. पण्डितराज जगन्नाथ कृत गङ्गालहरी, श्लोक ६.

२. लङ्कापतेः संकुचितं यशो यत् यत्कीर्तिपात्रं रघुराजपुत्रः ।
स सर्व एवादिकवेः प्रभावो न कोपनीया कवयो क्षितीन्द्रैः ॥
—विक्रमाङ्क-देवचरित–१–२७

३. नाहमासं नृपः स्यां चेन्ननु कुर्यां तथा महीम् ।
विचिन्वतापि नेक्ष्यन्ते यथा दुष्कविताङ्कुराः ॥
—गङ्गावतरणम्–१-३१

गिरां प्रवृत्तिर्मम नीरसापि मान्या भवित्री नृपतेश्चरित्रैः।
के वा न शुष्कां मृदमभ्रसिन्धुसम्बन्धिनीं मूर्धनि धारयन्ति॥

—विक्रमाङ्कदेवचरित–१–२८

इसी प्रसंग में अपनी विनम्रता निरूपित करते हुये कविवर दीक्षित का विचार इस प्रकार है:—

भक्त्या कृतेति जाह्नव्याः प्रभावं वदतीति वा।
सन्तः समनुगृह्णन्तु निर्गुणामपि मद्गिरम्॥

—गङ्गावतरणम्–१–५९

काव्योत्कर्ष में प्राचीन परम्परा का अतिक्रमण विल्हण के अनुसार अनुचित न होकर प्रशंसनीय माना गया है। अत्युन्नता से कञ्चुकी का स्फोटन करने वाले स्तनों से नायिका का सौन्दर्य निन्दनीय नहीं हो सकता––

प्रौढिप्रकर्षेण पुराणरीतिव्यतिक्रमः श्लाघ्यतमः पदानाम्।
अत्युन्नतिस्फोटितकञ्चुकानि वन्द्यानि कान्ताकुचमण्डलानि॥

—विक्रमाङ्कदेवचरित–१–१५

कविवर दीक्षित विल्हण की उपर्युक्त काव्य-व्यवस्था से असहमत नहीं हैं। उनके अनुसार व्यङ्ग्योत्कर्षित काव्य के शब्द-नियोजन में स्खलद्गति होने से उसका महत्त्व उसी प्रकार समाप्त हो जाता है जिस प्रकार लम्बे स्तनों (वार्धक्य) के कारण रम्भा और उर्वशी जैसी अप्सराओं का महत्त्व क्षीण हो आता है—

सव्यङ्गापि कवेर्वाणी सापभ्रंशा न शोभते।
लम्बस्तनीं को वीक्षेत रम्भामप्युर्वशीमपि॥

—गङ्गावतरण–१–२२

उपर्युक्त वर्णनों में पूर्णरूप से दृष्टान्त की साम्यता दिखाई पड़ती है। इसी प्रकार निन्दनीय कवियों के विषय में कविवर दीक्षित ने विल्हण के विचारों का स्पष्टरूप में समर्थन किया है। भूमिका में इसका विस्तृत विवेचन अनपेक्षित है। शोध की दृष्टि से इस महाकाव्य का कालिदास प्रभृति कवियों की रचनाओं से तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। इसमें शब्द-नियोजन, अलङ्कारों का समुचित अभिनिवेश कविवर दीक्षित ने बड़ी सतर्कता के साथ किया है जिससे काव्य में रसानुभूति का महत्व सर्वत्र व्यवस्थित एवं व्यवधान रहित रूप में प्रतीत होता है। कवि ने स्वयं स्पष्ट

किया है चमत्कार रहित (नीरस) रचना का महत्त्व हम उसी प्रकार नहीं देते जैसे प्राण रहित शरीर का महत्त्व नहीं होता[१]।

किसी कार्य में निष्प्रयोजन प्रवृत्ति नहीं होती। कविवर दीक्षित ने ग्रन्थारम्भ में ही बड़ी स्पष्टवादिता के साथ अपने प्रयोजन का उल्लेख इस प्रकार किया है—

तपसा लभ्यतां तस्यास्तपसश्च कठोरताम्।
पश्यन्वाचा तपस्यामि काव्यसन्दर्भरूपया॥

—गङ्गावतरण–१–५५

कवि ने स्वीकार किया है कठोरता के कारण वह तपस्या नहीं कर सकता क्योंकि कवियों में प्राकृतिक सुकुमारता होती है अतः उसकी प्रवृत्ति गंगा को काव्य रूप में निबद्ध करने में है। इसी प्रसंग में मेरा प्रयोजन भी अनुवादिता की तरह कविवर दीक्षित के विचार का समर्थक है; साथ ही मेरे प्रयोजन में तदपेक्षया कुछ भिन्नता भी है। मेरा विशेष प्रयोजन सामान्य संस्कृतज्ञों (हिन्दी भाषा-भाषियों) को इस काव्य की रसानुभूति से लाभान्वित करना है। विश्वास है सहृदय पाठकों को मेरे इस पुण्य प्रयास से अवश्य लाभ होगा।

चौखम्भा संस्कृत संस्थान के संचालक श्री मोहनदासगुप्त का हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने इस ग्रन्थ के प्रकाशन में अपनी स्वीकृति प्रदान की तथा इनके सुपुत्र उदीयमान चि० राजेन्द्र कुमार जी को विशेष धन्यवाद देता हूँ जिनकी प्रेरणा से यह अलभ्य ग्रन्थ कलात्मक विधा से सरुचिपूर्ण बना है।

अन्त में—

अपने अग्रज बन्धुप्रवर डॉ० कपिलदेव गिरि के अमूल्य सहयोग के प्रति मैं अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होंने सम्पादकीय व्यवस्था के साथ इस महाकाव्य के प्रकाशन में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।

'संयोग'
गान्धीगंज, कर्वी

विनयावनत
रमापति मिश्र

---

१. अचमत्कृतसदर्भमर्थं नैवाद्रियामहे।
अत्यन्तभोगौपयिकमैश्वर्यमिव देहिनाम्॥ गंगावतरण–१-१४

कृतज्ञता

सकलजनहितार्थं येऽवतीर्णाः पृथिव्यां
जगदपि खलु येषां शिष्यतां स्वीकरोति ।
अयमपि विधियोगाद्बन्धुतामेत्य तेषां
स्मरति स 'शिवरामाचार्य'-मानन्दरूपम् ॥

(श्रीमद्जगद्गुरु स्वामी रामानन्दाचार्य श्री शिवरामाचार्य जी)
श्रीमठ, कोनियाँ, वाराणसी

परोपकारप्रतिमेव येषां स्मृतिः सदा चेतसि धारणीया ।
जयन्ति ते 'रामशरण्यदासा' स्तेषां कृतज्ञोऽस्मि सदा विनीतः ॥

(महन्त श्री रामशरण दास जी महाराज जगदीश मन्दिर, कर्वी)
प्रबन्धक—जयदेव वैष्णव संस्कृत कालेज, कर्वी, बाँदा (उ० प्र०)

ऋज्वाकृतौ यस्य महत्पटुत्वं जानाति कश्चिन्निजतामवाप्य ।
मत्तो गुरुं वाहयति स्वकीयं धन्यः 'प्रसादेन' सुहृन्महेशः ॥

(श्री महेश प्रसाद शास्त्री, अध्यापक-गुरुकुल महाविद्यालय)
सिराथू—प्रयाग, धाता २ फतेहपुर

विलोक्य सर्वं 'प्रभुदत्तरूपं' तदन्यथा स्वीकुरुते न किञ्चित् ।
'वंशीधर' त्वं स बिभर्ति कस्मान्न वेद्मि 'शर्मा' भिहितं निजस्य ॥

(श्री वंशीधर शर्मा व्यवस्थापक-भागवत प्रेस)
८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग

प्रकाशने स्वीकृतिरत्र यस्य मया कृतज्ञेन सभाजनीया ।
भूयाच्चिरायुः सुरभारतीयप्रकाशको 'मोहनदासगुप्तः' ॥

(श्री मोहनदासगुप्त, प्रकाशक—चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी)

जलं विनाप्यभ्रनदीरजो यज्जनैः सदा मूर्धनि धारणीयम् ।
गङ्गाप्रसङ्गेन मम प्रयासं विपश्चितश्चेतसि धारयन्तु ॥

(विद्वान् सहृदय पाठकों के प्रति साभार)

समर्पणम्

भुवि प्रतिष्ठानपुरी 'प्रसिद्धा' संकीर्तनं यद्भवनं' प्रसिद्धम् ।
आभाति पौराणिकवर्णिता सा पुरी नवीना 'प्रभुदत्त' कीर्त्या ।।

पृथिव्यां प्रख्यातः 'प्रभुरिव' जनाभ्यर्चितवदो,
यदस्त्येषः किञ्चित्फलमिह तदाराधनविधेः ।
कृतार्थोऽयं जातस्तदिदमिति कृत्वा हृदि मुदा,
समर्प्य ग्रन्थानाममृतरस 'गङ्गावतरणम्' ॥

विषयानुक्रमणी

क्र० सं०		सर्गाङ्काः	पृष्ठाङ्काः
१. कथावतारः	...	१	१–१४
२. भगीरथवरलाभः	...	२	१५–२५
३. गङ्गाहंकारः	...	३	२६–३७
४. शिवसाक्षात्कारः	...	४	३८–५१
५. गङ्गावतारः	...	५	५२–६२
६. काशीप्रवेशः	...	६	६३–७४
७. विश्वेश्वरस्तवः	...	७	७५–८३
८. भगीरथनगरप्रवेशः	...	८	८४–१००
श्लोकानुक्रमणिका	...		१०१

श्रीनीलकण्ठदीक्षितप्रणीतं

गङ्गावतरणम्

प्रथमः सर्गः

अद्भुतं किमपि द्वन्दमस्तु तन्मम शर्मणे।
स्वस्तिकस्तनुते यस्य सुदृढाश्लेषनिर्वृतिम् ॥ १ ॥

जिसका कल्याण सूचक चिह्न सुदृढाश्लेषजन्य सुखशान्ति का विस्तार करता है वे ही युगल पार्वती परमेश्वर मेरा कल्याण करें ॥ १ ॥

व्यासमेव स्तुमो यस्य वाचं गणयितुं विधिः।
विषीदति वृषाङ्केण विलूने पञ्चमानने ॥ २ ॥

जिनकी वाणी की गणना करने के लिए शिव के द्वारा पाँचवें शिर के कट जाने पर ब्रह्मा जी कष्ट का अनुभव करते हैं ऐसे व्यास जी को हम नमस्कार करते हैं ॥ २ ॥

कान्तः सहृदयो वाचः कविरेव चिरन्तनः।
जडे जगति येनैव च्छन्दः प्रागन्वरुध्यत ॥ ३ ॥

कमनीयतापूर्ण, सहृदयवाग्मी वही चिरन्तन कवि है जिसने (वाल्मीकि ने) इस जडीभूत संसार में सर्वप्रथम छन्दोबद्धवाणी का अवतरण किया ॥ ३ ॥

कवितामफलद्वीटी कालिदासमुखेऽर्पिता।
पत्युर्मुखे तु सा गौर्याः परुषं निगमाक्षरम् ॥ ४ ॥

वह वाल्मीकि की कविता लता कालिदास के मुख में अर्पिता होकर फलीभूत हुई किन्तु गौरी पति के मुख में वही कविता कठिन वेदवाणी के रूप में परिणत हो गयी ॥ ४ ॥

नारायणाध्वरीन्द्राय नमोऽस्तु ज्ञानसिन्धवे।
शारदा यत्कटाक्षाणां साप्यचेतनकिंकरा ॥ ५ ॥

ज्ञान सिन्धु नारायणाध्वरीन्द्र को नमस्कार है जिनके कटाक्षों में निःशुल्क दासी के रूप में सरस्वती भी निवास करती हैं ॥ ५ ॥

कल्पनेत्यस्ति तत्किंचित्कविलोकस्य जीवितम्।
प्रविश्येव गृहीतं यद्भारत्याः कोशमन्दिरात् ॥ ६ ॥

सरस्वती के निधि मन्दिर में प्रवेश करके कवियों ने जो ग्रहण किया वह कवि जीवन की स्वल्प कल्पना है ॥ ६ ॥

स सन्दर्भः कवीन्द्राणां शारदा यं पदे पदे।
श्लाघते विस्मयावेशस्मेरमन्थरया दृशा ॥ ७ ॥

महाकवियों के जिस प्रबन्ध काव्य की पग-पग पर विस्मयावेश से सुन्दर मन्द दृष्टि से शारदा प्रशंसा करती हैं वही सन्दर्भ है ॥ ७ ॥

शीलिते कविलोकेन सिद्धे ब्रह्मणि वाङ्मये।
पामराः कलहायन्ते पश्यास्मिन्नन्यथान्यथा ॥ ८ ॥

कवियों के द्वारा अनुशीलित प्रसिद्ध ब्रह्मवाङ्मय में भी क्षुद्र कवि अनेक प्रकार का विवाद ही करते हैं ॥ ८ ॥

अस्ति सारस्वतं चक्षुरज्ञातस्वापजागरम्।
गोचरो यस्य सर्वोऽपि यत्स्वयं कर्णगोचरः ॥ ९ ॥

सर्वस्व ज्ञाता होकर भी स्वयं जिसका ज्ञान सुनने से ही सम्भव है ऐसा अज्ञानता की सुषुप्ति से प्रबोधित करने वाला सारस्वत नेत्र है ॥ ९ ॥

सत्यर्थे सत्सु शब्देषु सति चाक्षरडम्बरे।
शोभते यं विना नोक्तिः स पन्था इति घुष्यते ॥ १० ॥

अर्थ, शब्द और अक्षराडम्बर होने पर भी जिसके बिना उक्ति सुशोभित नहीं होती वही काव्य मार्ग है ॥ १० ॥

शृण्वन्तोऽपि न शृण्वन्ति जानन्तोऽपि न जानते।
साहितीमितरे तस्या ज्ञाता श्रोता च यः कविः ॥ ११ ॥

कुछ लोग (अज्ञानता से) साहित्य को सुनते हुये भी नहीं सुनते, जानते हुये भी (प्रवृत्ति के अभाव से) नहीं जानते, साहित्य का ज्ञाता और श्रोता ही कवि है ॥ ११ ॥

न लक्षणेषु निष्कर्षो न वा काव्येषु कौशलम्।
सन्दर्भनिर्णयायालं स ह्यदृष्टैकमूलकः ॥ १२ ॥

लक्षणों में निष्कर्ष और काव्यों में कुशलता (निपुणता) के अभाव से भी जो निर्णयात्मक सन्दर्भ में समर्थ होता है वह भाग्यशाली कवि है ॥ २२ ॥

भारतीषु कवीन्द्राणां यावती सुकुमारता ।
तावती काव्यमर्मज्ञसंमर्दैकसहिष्णुता ॥ १३ ॥

महाकवियों की वाणी में जैसी सुकुमारता हो वैसी ही उसमें काव्यतत्त्व विदों के संमर्दन की सहिष्णुता भी होनी चाहिये ॥ १३ ॥

अचमत्कृतसन्दर्भमर्थं नैवाद्रियामहे ।
अत्यन्तभोगौपयिकमैश्वर्यमिव देहिनाम् ॥ १४ ॥

चमत्कार रहित अर्थवाले काव्य का हम आदर नहीं करते । जैसे अत्यन्त मुक्त शारीरिक वैभव का सम्मान नहीं होता ॥ १४ ॥

स्वर्गः कस्यास्तु सुधियः श्लाघन्ते चेन्निजं पदम् ।
ततोऽन्यः कोऽस्ति निरयस्तत्र ते यद्युदासते ॥ १५ ॥

'स्वर्ग किसका है' इस प्रकार यदि बुद्धिमान् लोग आत्मपद की प्रशंसा करेंगे तो तदतिरिक्त वह नरक क्या है जिससे वे उदासीन रहते हैं । अतः आत्मश्लाघा नहीं करनी चाहिये ॥ १५ ॥

हतः श्लोको हतं काव्यं हता बुद्धिर्हतं यशः ।
सद्भिरुद्भावितो दोषो यदि नाभ्युपगम्यते ॥ १६ ॥

सज्जन विद्वान् जिसे आलोचना रूपी दोष से न देखें वह श्लोक मृत है, काव्य अकाव्य, बुद्धि विनाश और कीर्ति अपकीर्ति के समान है ॥ १६ ॥

अन्धास्ते कवयो येषां पन्थाः क्षुण्णः परैर्भवेत् ।
परेषां तु यदाक्रान्तः पन्थास्ते कविकुञ्जराः ॥ १७ ॥

जिनका मार्ग शत्रुओं से अवरुद्ध हो, वे कवि अन्धे होते हैं । जो कवि हाथी की तरह अपना मार्ग स्वयं निर्मित करे वही महाकवि है ॥ १७ ॥

विदुषां मत्सरग्रन्थिर्विभेद्यो वचसां गुणैः ।
नैव केनापि दुर्मेधश्चोद्यमर्कटमुष्टयः ॥ १८ ॥

वाणी के गुणों से विद्वानों की मत्सरग्रन्थि का विमोचन करना चाहिये न कि किसी मूर्ख की तरह कवि मुष्टिका का प्रयास करना चाहिये ॥ १८ ॥

आजन्मनः प्रबन्धॄणां पद्यबन्धेषु यः श्रमः ।
सोऽपि सामाजिकायत्तः कष्टं धिक्कविजीवितम् ॥ १९ ॥

जन्म से लेकर प्रबन्धों के पद्य निबन्धन में जो श्रम है वह भी यदि समाज पर आश्रित है तो ऐसे कवि के कष्ट पूर्ण जीवन को धिक्कार है ॥ १९ ॥

नार्थमुल्लिखितुं यत्नो नापि ग्रन्थयितुं गिरः ।
श्रवणात्प्रागनाक्षेपः श्रोतुरभ्यर्थ्यते परम् ॥ २० ॥

अर्थ लिखने के लिये प्रयत्न और ग्रन्थ निर्माण में वाणी का अभाव होने पर भी श्रवण से पूर्व श्रोता के आक्षेप न होने की बड़ी अभ्यर्थना रहती है ।

दूषणाय न काव्यानां दुर्जनाक्षेपसंप्लवः ।
शफरीपरिवर्तैः किं सरसी न प्रसीदति ॥ २१ ॥

जैसे मछलियों के निरन्तर पलटने से जल दूषित न होकर निर्मल ही होता है वैसे दुर्जनों के आक्षेप से काव्य दूषित नहीं होता ॥ २१ ॥

सव्यङ्गापि कवेर्वाणी सापभ्रंशा न शोभते ।
लम्बस्तनीं को वीक्षेत रम्भामप्युर्वशीमपि ॥ २२ ॥

व्यङ्ग्य पूर्ण अपभ्रंशित कवि वाणी सुशोभित नहीं होती । जैसे—लम्बे स्तनों वाली रम्भा और उर्वशी अप्सरा को भी कौन देखना चाहेगा ? ॥२२॥

क नु नाम सभा राज्ञां दुराक्षेपैकशिक्षिता ।
क नु वाचः सुधीलोकलालनैकरसाः कवेः ॥ २३ ॥

कहाँ राजाओं की दूषितारोप प्रशिक्षित राजसभा ? कहाँ बुद्धिजीवियों के जीवनाधार रस को धारण करने वाली कवि वाणी ? अर्थात् दोनों परस्पर विरोधी हैं ॥ २३ ॥

व्यङ्क्तुमस्फुरितो दोषान्भङ्क्तुमुत्स्फुरतो गुणान् ।
ईर्ष्ये भगवति ब्रूहि का त्वदन्या प्रगल्भताम् ॥ २४ ॥

अप्रकटित दोषों की अभिव्यक्ति तथा सुन्दर गुणों को तोड़ने के लिये हे देवि ईर्ष्ये, तुम्हारे अतिरिक्त कौन प्रगल्भ हो सकता है ॥ २४ ॥

किं मदक्ष्णोरयं दोषः किं तद्वस्त्वेव तादृशम् ।
कामं यन्मौलिरज्ञानां कम्पते कविसूक्तिषु ॥ २५ ॥

कवि सूक्तियों में मूर्खों का जो शिरःकम्पन होता है क्या वह वस्तु ही वैसी होती है ? अथवा यह मेरे नेत्रों का दोष है ? ॥ २५ ॥

पुष्णन्तु स्वेति मधुरां परस्यापि कृतिं जनाः ।
स्वोक्तिभिर्यत्कचित्कर्णौ दहन्ति तदरुन्तुदम् ॥ २६ ॥

दूसरों की और अपनी रचना को कविगण माधुर्यादि गुणों से पुष्ट करें किन्तु जो आत्मश्लाघा के लिये ही अपनी उक्तियों से कर्णदग्ध करते हैं वे घाव में नमक छिड़कते हैं ॥ २६ ॥

स्तुत्यं न स्तुवते मूढाः पद्यं यत्तन्न दारुणम् ।
अपदे यत्प्रशंसन्ति तन्मे मर्माणि कृन्तति ॥ २७ ॥

मूढ लोग स्तुत्य पद्य की प्रशंसा नहीं करते यह दुःखद नहीं किन्तु जो अनुचित पद्य की प्रशंसा करते हैं वे मेरे घावों में और भी आघात करते हैं। अर्थात् उनका यह कार्य असह्य हो जाता है ॥ २७ ॥

जानीमो ज्यायसीं लक्ष्म्या जातु ते न तु शारदे ।
आः स्मृतं ननु सा वक्रेष्वास्ते दुष्कविसंसदाम् ॥ २८ ॥

हे शारदे, हम आपको लक्ष्मी से श्रेष्ठ रूप में जानते हैं किन्तु कभी-कभी ऐसा अनुभव नहीं होता, अरे मुझे स्मरण हो गया वह लक्ष्मी कुटिल कवियों की सभा में भी रहती है अत एव उससे आपकी तुलना नहीं हो सकती ॥ २८ ॥

न यदाह मनुर्वध्यान्न च नासृजदब्जभूः ।
न वान्तकः कविंमन्यान्नयते तन्मदंहसा ॥ २९ ॥

मनु ने कहा है अभिमानी कवियों का वध नहीं करना चाहिये ब्रह्मा इनकी सृष्टि नहीं करते, और यमराज भी इनका अन्त नहीं करते अपने प्रबल अहंकार से ही इनका विनाश सम्भव है ॥ २९ ॥

आमये यमके जाग्रत्यपमृत्यौ च दुष्कवौ ।
वाणि प्राणिषि तन्मन्ये वज्रेणैवासि निर्मिता ॥ ३० ॥

रोग ग्रसित यमाभ्यर्थित कुकवि के दीर्घायु होने पर हे वाणि, यदि तुम जीवित हो तो मेरे विचार से तुम्हारी रचना वज्र से हुई है ॥ ३० ॥

नाहमासं नृपः स्यां चेन्ननु कुर्यां तथा महीम् ।
विचिन्वतापि नेक्ष्यन्ते यथा दुष्कविताङ्कुराः ॥ ३१ ॥

मैं राजा न हो सका, यदि हो गया होता तो पृथ्वी का ऐसा निर्माण करता कि कुकविता के अङ्कुर अन्वेषण करने पर भी कहीं दिखाई न पड़ते ॥ ३१ ॥

पातिव्रत्यक्रमः कोऽयं प्राणभङ्गावधिस्तव ।
सर्गतः कविपाशानां शारदे वारय प्रियम् ॥ ३२ ॥

हे शारदे, आमरण पर्यन्त यह तुम्हारा कैसा पातिव्रत क्रम है अपने प्रिय को कवि बन्धनों के सर्ग से रोकना चाहिये ॥ ३२ ॥

दूयामहे दुष्कविभिर्दत्तकर्णज्वरा वयम् ।
न वा वदामो वाग्देवि ननु त्वमपि तैर्हता ॥ ३३ ॥

हे वाग्देवि, हमलोग कुकवियों के द्वारा कर्णज्वर से प्रपीड़ित हैं तथापि कुछ नहीं कहते क्योंकि तुम उनके द्वारा विनष्ट की गयी हो ॥ ३३ ॥

विज्ञप्तिः श्रूयतामेका विधातः करुणा यदि ।
मूकान्सृज कविंमन्यान्बधिरान्विदुषोऽथवा ॥ ३४ ॥

हे विधाता, यदि दयाभाव हो तो मेरी एक प्रार्थना सुनें। अपने को कवि मानने वाले अहंकारी कवियों को मूक अथवा विद्वानों को बधिर बना दें ॥३४॥

जना नीराजनीयास्ते जानन्ति स्वयमेव ये ।
कथंचिदपि वा सर्गैः काव्यमङ्कैश्च नाटकम् ॥ ३५ ॥

उनकी आरती उतारनी चाहिये जो किसी प्रकार से सर्गों से काव्य और अङ्कों से नाटक का स्वरूप स्वयं जान लेते हैं ॥ ३५ ॥

प्राचेतसेन यानीता पालिता भवभूतिना ।
सर्वतश्चर्व्यते वाणी सैवाद्य कविमानिभिः ॥ ३६ ॥

वाल्मीकि ने जिस छन्दोबद्ध को अवतरित किया, भवभूति ने उसका पालन किया वही वाणी आज अभिमानी कवियों द्वारा आमूल रूप से नष्ट हो रही है ॥ ३६ ॥

निःशङ्कं न प्रवृत्तोऽस्मि निन्दितुं कविमानिनः ।
निन्दामपि विगायन्ति यतः श्लाघामिवात्मनः ॥ ३७ ॥

मैं निःशङ्क होकर अभिमानी कवियों की निन्दा करने के लिये प्रवृत्त नहीं हो सकता क्योंकि ये उसे भी अपनी प्रशंसा मानकर गान करेंगे ॥ ३७ ॥

मुनिरस्ति भरद्वाजः ख्यातस्त्रिभुवनेष्वपि ।
अन्नैर्यस्य जहौ रामोऽप्यरण्यभ्रमणश्रमम् ॥ ३८ ॥

तीन लोकों में प्रख्यात भरद्वाज नाम के मुनि हैं जिनके अन्न से राम ने भी अरण्य भ्रमण के श्रम को दूर किया था ॥ ३८ ॥

तस्यान्वये महत्यासीत्क्षीरोद इव चन्द्रमाः ।
श्रीकण्ठचरणासक्तः श्रीमानप्पयदीक्षितः ॥ ३९ ॥

उसी विशाल वंश में समुद्र से चन्द्रमा की तरह शिवचरणानुरागी श्रीमान् अप्पय दीक्षित उत्पन्न हुये ॥ ३९ ॥

विधित्रयी यदाक्षिप्ता नान्यत्र लभते गतिम् ।
जयन्त इव दुर्दान्तजानकीशशरार्दितः ॥ ४० ॥

अप्पय दीक्षित ने ऐसी विधित्रयी का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया उसका ज्ञान

किसी अन्य से असम्भव है जैसे अन्यत्र गति को न प्राप्त कर जयन्त ने पुनः राम के दुर्दान्त शरके समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया था ॥ ४० ॥

आगमैरप्यसंवेद्यमाद्यं यत्तत्त्वमैश्वरम् ।
आकुमारं परिज्ञातं तदेवासीद्यदुक्तिभिः ॥ ४१ ॥

जिन अप्पय दीक्षित की उक्तियों से ज्ञात होता है कि शास्त्रों के द्वारा भी जिस ईश्वर के आद्य तत्त्व का परिज्ञान नहीं हो सकता वह उन्हें बाल्यकाल में ही ज्ञात हो गया था ॥ ४१ ॥

श्रीकण्ठदेशिकग्रन्थसिद्धान्तद्योतचन्द्रिका ।
श्रीमती निर्मिता येन शिवार्कमणिदीपिका ॥ ४२ ॥

जिन्होंने श्री कण्ठदेशिक ग्रन्थ, सिद्धान्तद्योतचन्द्रिका तथा सुन्दरतापूर्ण शिवार्कमणिदीपिका की रचना किया ॥ ४२ ॥

गङ्गया यः पुरा स्नातो देवश्चन्द्रार्धशेखरः ।
गाङ्गेयेन पुनः सस्नौ सोऽवतीर्य यदात्मना ॥ ४३ ॥

पहले गङ्गा के द्वारा चन्द्रशेखर स्नपित हुये थे मानों उन्होंने अप्पय दीक्षित के रूप में पुनः प्रकट होकर गङ्गाजल से स्नान किया ॥ ४३ ॥

अमोषणीयैरक्रय्यैरमूल्यैरमलीमसैः ।
यत्प्रबन्धैः शतेनैव भारती परिकर्मिता ॥ ४४ ॥

जिन्होंने अनपहरणीय अक्रय्य, अमूल्य और शत प्रबन्धों से सरस्वती की परिक्रमा की है ॥ ४४ ॥

यं विद्म इति यद्ग्रन्थानभ्यास्यामोऽखिलानिति ।
यस्य शिष्याः स्म इति च श्लाघन्ते स्वं विपश्चितः ॥ ४५ ॥

जिनके सभी ग्रन्थों का अध्ययन करने पर ही हम उन अप्पय दीक्षित को जान सकते हैं । तथा 'हम शिष्य हैं' इस प्रकार जिनसे विद्वान् लोग अपनी प्रशंसा करते हैं ॥ ४५ ॥

नाकेऽपि सति देवानां माहात्म्यकलहे मिथः ।
वादः शाम्यति यद्वाचि विन्यस्य निखिलंभरम् ॥ ४६ ॥

परस्पर महत्ता के लिये कलह करने वाले देवताओं के स्वर्ग में भी जिन अप्पय दीक्षित की वाणी पर सम्पूर्ण निर्णय का भार रख देने पर विवाद समाप्त हो जाता है ॥ ४६ ॥

आमोदिभिर्वचःपुष्पैरर्चितो येन शंकरः ।
तत्याज काशधत्तूरधारणोपहितां रुजम् ॥ ४७ ॥

जिनके प्रमोद पूर्ण वचःसुमनों से अभ्यर्चित शंकर जी ने तृण पुष्प और धत्तूर पुष्प माला धारण करने वाले रोग का परित्याग कर दिया ॥ ४७ ॥

तत्समानप्रभावस्य तदनन्तरजन्मनः ।
आसीदाच्चादीक्षितस्य पुत्रो नारायणाध्वरी ॥ ४८ ॥

उन्हीं के समान प्रभावशाली उनके बाद पैदा होने वाले आच्चादीक्षित के पुत्र नारायणाध्वरी हुये ॥ ४८ ॥

जयन्ति तनयास्तस्य पञ्च सौभ्रात्रशालिनः ।
गर्भदासा महेशस्य कवयश्च विपश्चितः ॥ ४९ ॥

जन्म से ही शिवभक्त विद्वान् कवि रूप में पाँच भाइयों वाले उनके पुत्र सर्वोत्कृष्ट हैं ॥ ४९ ॥

तेषामहं द्वितीयोऽस्मि भूमिदेवीतनूभुवाम् ।
नीलकण्ठ इति ख्यातिं नीतः शंभोः प्रसादतः ॥ ५० ॥

भूमि देवी से उत्पन्न होने वाले पुत्रों में मैं द्वितीय पुत्र हूँ । शम्भु की कृपा से मैं नीलकण्ठ नाम से प्रसिद्ध हो गया ॥ ५० ॥

वार्तिकाभरणग्रन्थनिर्माणव्यक्तनैपुणः ।
श्रीवेङ्कटेश्वरमखी शिष्ये मय्यनुकम्पिते ॥ ५१ ॥

अनेक ग्रन्थों के भाष्य और निर्माण से जिनकी काव्य निपुणता सुस्पष्ट है मुझ शिष्य पर ऐसे वेङ्कटेश्वर मखी की बड़ी अनुकम्पा है ॥ ५१ ॥

कुर्वती श्रवणे वाणी कोमलां यस्य साहितीम् ।
कर्णपूरशिरीषेऽपि काठिन्यमिव पश्यति ॥ ५२ ॥

जिसके सुकोमल साहित्य रचना को सुनती हुई शारदा कर्णाभूषण शिरीषपुष्प में भी कठोरता का अनुभव करती है ॥ ५२ ॥

भान्ति शिष्याः पुरो यस्य पाणिविन्यस्तपुस्तकाः ।
तत्सूक्तिजाह्नवीपूरत्रासेनेव धृतप्लवाः ॥ ५३ ॥

जिनकी सूक्तियों को जाह्नवी के बाढ़ जन्यवेग की तरह धारण किये हुये हाथ में पुस्तक लिये शिष्य सुशोभित होते हैं ॥ ५३ ॥

सति सह्यसुतातीरे सति त्र्यम्बकशीलिने ।
गन्तुं निश्चितवानस्मि गङ्गां केनापि हेतुना ॥ ५४ ॥

अद्रितनया त्रिपथगा के रहने पर भी मैंने किसी विशेष कारण से गङ्गा के अधिक समीप जाने का निश्चय किया है ॥ ५४ ॥

तपसा लभ्यतां तस्यास्तपसश्च कठोरताम् ।
पश्यन् वाचा तपस्यामि काव्यसंदर्भरूपया ॥ ५५ ॥

गङ्गा की तपस्या से उपलब्धि एवं तपस्या की कठोरता को देखते हुये काव्य संदर्भरूपी वाणी से तप करूँगा ॥ ५५ ॥

मूकोऽपि मुखरायेत यत्र स्मृतिपथं गते ।
उपेक्षितव्यं तद्वस्तु कथं कवयता मया ॥ ५६ ॥

जिसके स्मृति मात्र से मूक भी मुखर हो जाता है इस कवि नीलकण्ठ से उसकी कैसे उपेक्षा हो सकती है ॥ ५६ ॥

भगीरथमुखाद्वाचः स्तुवन्ति मम जाह्नवीम् ।
प्रभावे चन्द्रचूडस्य पर्यवस्यन्ति तत्त्वतः ॥ ५७ ॥

मेरी वाणी भगीरथ मुख से जाह्नवी गङ्गा की स्तुति करेगी और वह वाणी परमार्थ रूप से भगवान शंकर के प्रभाव में परिवर्तित हो जायेगी ॥ ५७ ॥

चन्द्रशेखरसव्याङ्घ्रचरणोन्मार्जनाम्भसाम् ।
विवर्ता जगदुत्सङ्गे विहरन्ति मदुक्तयः ॥ ५८ ॥

चन्द्रशेखर के वामचरण से परिमार्जित जल में भँवर की तरह मेरी उक्तियाँ विश्वोत्सङ्ग में विहार करेंगी ॥ ५८ ॥

भक्त्या कृतेति जाह्नव्याः प्रभावं वदतीति वा ।
सन्तः समनुगृह्णन्तु निर्गुणामपि मद्गिरम् ॥ ५९ ॥

भक्ति विहित जाह्नवी के प्रभाव का वर्णन करने वाली हमारी निर्गुण वाणी को भी साधु लोग स्वीकार करें ॥ ५९ ॥

आसीद्भगीरथो नाम राजा रविरिवापरः ।
येन साक्षात्कृतः शंभुर्येन गङ्गावतारिता ॥ ६० ॥

दूसरे सूर्य की तरह तेजस्वी राजा भगीरथ हुये । जिन्होंने शम्भु का साक्षात्कार किया, जिन्होंने गङ्गा का अवतरण किया ॥ ६० ॥

सदयं सानुरागं च भुञ्जानं तं वसुन्धराम् ।
ऐच्छदिन्द्रवशापि द्यौरन्तः कुलवधूरिव ॥ ६१ ॥

दया और अनुराग के साथ वसुन्धरा का उपभोग करने वाले राजा भगीरथ ने अन्तःपुर की कुलवधू की तरह इन्द्र के वशीभूत स्वर्ग की कामना की ॥ ६१ ॥

गोवर्धनधरस्यापि यदि तावद्यशो हरेः।
कियन्न वर्ण्यः स भुवं बिभ्रत्सगिरिकाननम् ॥ ६२ ॥

यदि गोवर्धन पर्वत को धारण करने वाले भगवान श्रीकृष्ण के यश का वर्णन हो सकता है तो पर्वत और वनों से युक्त पृथ्वी को धारण करने वाले भगीरथ क्यों वर्णनीय नहीं हैं ॥ ६२ ॥

स पौरान्पादमूलस्थानरक्षदिति नाद्भुतम्।
यद्दिगन्ते यशोऽरक्षत्प्रतापं शारिवेश्मसु ॥ ६३ ॥

राजा भगीरथ ने चरणानुरागी पुरवासियों का पालन किया यह आश्चर्य नहीं ? अपितु उन्होंने दिशाओं के सारिका गृहों में भी अपने यश का संरक्षण किया ॥ ६३ ॥

दयालुरथ भूतेषु दण्ड्येष्वासीत्स निर्दयः।
संजीवनोऽपि लोकानां चन्द्रमाः पथिकान्तकः ॥ ६४ ॥

वे राजा भगीरथ प्राणियों में दया भाव रखते थे और दण्डनीयों में कठोरतम थे। लोक में चन्द्रमा संजीवन है और पथिकों का अन्तक (अन्त तक पहुँचाने वाला) भी है ॥ ६४ ॥

न दण्ड्यं मुमुचे कंचिन्न वा कंचिददण्डयत्।
तथापि युक्तदण्डः स दयालुरिति पप्रथे ॥ ६५ ॥

उन्होंने कभी दण्डनीय को नहीं छोड़ा और किसी अदण्ड्य को दण्ड नहीं दिया इस प्रकार उचित दण्डनीति से वे राजा भगीरथ दयालु रूप में प्रसिद्ध हो गये ॥ ६५ ॥

उचितेष्वदिशद्दृष्टिमुदासीनः परेषु च।
शुश्राव च न शुश्राव स वाचमनुजीविनाम् ॥ ६६ ॥

उचित में दृष्टि एवं शत्रुओं में उदासीन रहने पर उन्हें अनुजीवियों की शिकायत सुनने का कोई प्रश्न ही नहीं था ॥ ६६ ॥

उचितज्ञतया तस्मिन्नन्वरज्यन्यथा प्रजाः।
न तथा तस्य दानेन न तथा चोपलालनैः ॥ ६७ ॥

उनकी उचित जानकारी से प्रजा उनमें जैसे अनुरक्त थी वैसे उनके दान, और पालन-पोषण से अनुरक्त नहीं थी ॥ ६७ ॥

तस्मिन्दुर्जनदुर्धर्षे समं पश्यति च प्रजाः।
सर्वोऽप्यासीदपिशुनः सर्वोऽपि गतमत्सरः ॥ ६८ ॥

दुर्जनों का विनाश करने वाले राजा भगीरथ की सम दृष्टि से निरीक्षित प्रजा में कोई न तो चोर था न किसी में किसी के प्रति ईर्ष्या थी ॥ ६८ ॥

स यावल्लालयामास क्रीडन्निव हसन्निव ।
उपासांचक्रिरे तावद्भूतास्तमनुजीविनः ॥ ६९ ॥

राजा भगीरथ ने हँसते-खेलते ही प्रजा का जबतक पालन किया तब तक उनके अनुजीवियों ने उनकी सेवा की ॥ ६९ ॥

जातः कोपो न भृत्येषु जातोऽपि न निगूहितः ।
निगूहितोऽपि न चिरमास्त चित्तेऽस्य कोमले ॥ ७० ॥

वे राजा भगीरथ कभी नौकरों पर क्रुद्ध नहीं हुये यदि किसी प्रकार क्रोध हो ही गया तो उसे छिपाते नहीं थे। छिपाने पर भी वह उनके सुकोमल चित्त में अधिक समय तक नहीं रहता था ॥ ७० ॥

वैरायतां विरिञ्चोऽपि विप्रकर्तुं क्षमेत सः ।
अज्ञातविमतोत्पादामभुङ्क्त तदपि क्षितिम् ॥ ७१ ॥

अनुचित रूप से यदि ब्रह्मा भी उनसे शत्रुता करें तो उसके प्रतीकार में राजा भगीरथ पूर्ण समर्थ थे क्योंकि वे भूल से भी कभी शत्रु की सम्पत्ति का उपभोग नहीं करते थे ॥ ७१ ॥

प्रणाममात्रसंप्रीतस्तेजस्वी चोदयस्थितः ।
कूटस्थं रविमैक्ष्वाको गुणैरनुययाविव ॥ ७२ ॥

प्रणाम मात्र से प्रसन्नता और सूर्य के समान निरन्तर अभ्युदय प्राप्त करने वाले राजा भगीरथ ने इक्ष्वाकु गुणों का अनुगम किया ॥ ७२ ॥

तस्यासन्प्राक्तना एव सेनामन्त्र्यनुजीविनः ।
नवं यशो नवः कोशो नवं राज्यं च केवलम् ॥ ७३ ॥

राजा भगीरथ के सेनानी, मन्त्री और भृत्य वर्ग प्राचीन ही थे किन्तु उनका यश, कोश और राज्य नवीन था ॥ ७३ ॥

षष्ठांशं जगृहे नेति तुष्टुवुस्तं तपस्विनः ।
न त्वबुध्यन्त गृह्णन्तमुपायेनाखिलं तपः ॥ ७४ ॥

राजकर के रूप में वे तपस्वियों से षष्ठांश भी नहीं लेते थे इससे तपस्वी उनकी स्तुति करते थे किन्तु वे यह नहीं जानते थे कि किस उपाय से वे उनके सम्पूर्ण तप को ग्रहण कर लेते हैं ॥ ७४ ॥

स्रस्तमंसतलात्पान्थैः संव्यानमपि वर्त्मसु ।
सातङ्कमाददे भूयस्तरद्भिस्तस्य शासनम् ॥ ७५ ॥

मार्गों में पथिकों के कन्धे से गिरे उत्तरीय को उनसे प्रभावित निशाचर भी भय के साथ ग्रहण करते थे ॥ ७५ ॥

अख्यातपूर्वविजयानतृणी कृतजीवितान् ।
अक्षत्रियानयूनश्च न स संजगृहे भटान् ॥ ७६ ॥

राजा भगीरथ ने अपनी सामरिक प्रसिद्धि से अपने अनुजीवियों को महान् बना दिया था अतः वे क्षत्रियेतरों और बालवृद्धों को सेना में स्थान नहीं देते थे ॥ ७६ ॥

अवितीर्णमहाग्रामैरकृतस्वर्णवृष्टिभिः ।
कटाक्षैर्न बभूवेऽस्य कविवक्रनिपातिभिः ॥ ७७ ॥

वैभव सम्पन्नता से प्रवृद्ध ग्राम समूह और स्वर्ण वृष्टि न करने से कवियों की वक्रतापूर्ण व्यङ्ग्य कटाक्षों से राजा भगीरथ अप्रभावित थे ॥ ७७ ॥

संग्रामाङ्गणमारूढः स समक्षं विरोधिनाम् ।
तिरस्कारमिवामंस्त चापस्यापि शिरोनतिम् ॥ ७८ ॥

राजा भगीरथ युद्धस्थल में शत्रु के समक्ष उपस्थित होकर धनुषाग्र भाग के झुकने को भी वे अपमान समझते थे ॥ ७८ ॥

प्रददावेव सोऽर्थिभ्यः प्रतिजग्राह न क्वचित् ।
वासवादसकृद्वृष्टिं लिप्समानस्त्वलज्जत ॥ ७९ ॥

वे निरन्तर याचकों को दान करते थे, किसी से कुछ भी नहीं ग्रहण करते थे अपितु जलवृष्टि की तरह स्वर्ण वृष्टि न कर पाने पर लज्जित हो जाते थे ॥ ७९ ॥

सायाह्नपचयेनापि मर्यादां लङ्घतेऽर्णवः ।
स तु तावत्प्रवृद्धोऽपि मर्यादां नात्यलङ्घत ॥ ८० ॥

सायं काल के अभाव में समुद्र मर्यादा (सीमा) का उल्लङ्घन कर सकता है किन्तु प्रवृद्ध होने पर भी वे कभी अमर्यादित नहीं थे ॥ ८० ॥

दातुं प्रवृद्धश्चन्द्रोऽपि पक्षे पक्षेऽपचीयते ।
स तु भूयोऽप्यवर्धिष्ट संततं वितरन्नृपः ॥ ८१ ॥

पूर्णिमा का चन्द्रमा किरण व्यय से धीरे-धीरे (पक्ष में) क्षीण होता है

किन्तु याचकों को निरन्तर दान देते हुये राजा भगीरथ पुनः पुनः वृद्धि को प्राप्त हो रहे थे ॥ ८१ ॥

पदं किमेतावदुदारतोचितं, प्रयुज्य संश्लेयममुष्य दातृताम् ।
पदेषु यत्प्रत्यय एव नाशितः, प्रयोगशूरैः कविभिः समन्ततः ॥८२॥

'इसकी दानशीलता प्रशंसनीय है' इस प्रकार चारों तरफ प्रयोग निपुण कवियों के द्वारा राजा भगीरथ के लिये उदारता का यह पदप्रयुक्त करके 'पदमर्हति इति पद्यम्' की यत्प्रत्यय जन्य निष्पन्नता व्यर्थ कर दी गयी ॥ ८२ ॥

यदस्य युद्धेषु महत्कुतूहलं, य उद्यमो यत्प्रतिपालनं च वा ।
इदं किमङ्गश्रुतमीक्षितं नु वा, महीभुजोऽन्यस्य महोत्सवेष्वपि ॥

राजा भगीरथ के युद्ध में जो विशाल कौतुक और प्रतिपालन के योग्य उद्यम है वह किसी अन्य राजा के रणमहोत्सव में दृष्टान्तप्रमाण स्वरूप सुना और देखा जाता था ॥ ८३ ॥

एकैकां क्रमभाविनीमपि कलामिन्दोः समास्वाद्य यैः
कण्ठोद्ग्रीवितजीवितैर्निरवधिः कालः कथंचिज्जितः ।
तैरेवोदरपूरमध्वरहविः स्फारं तदावर्जितं
भुञ्जानैस्त्रिदशैरधारि जठरप्रायं तदानीं वपुः ॥ ८४ ॥

जिन्होंने क्रमशः चन्द्रकला को प्राप्त करके ग्रीवा को ऊपर किये समुन्नत जीवन यापन से निरवधिकाल को जीत लिया । और उन्होंने तत्पश्चात् यज्ञ का अनुष्ठान किया जिसमें इतने प्रचुर मात्रा में हवनीय द्रव्य की आहुति दी गयी कि देवताओं का उदर उमड़ने लगा और उन्होंने सुदृढ़ उदर वाले शरीर को धारण किया ॥ ८४ ॥

परिज्ञातं तत्त्वं निखिलमपि विद्यासु विदुषां
परिज्ञातं भूयः परिषदि सतां श्लाघितमपि ।
फलैर्योक्तुं तत्तत्क्रमसमुचितैः श्लाघितमपि
प्रगल्भः कोऽन्यः स्यात्त्रिभुवनवदान्यो यदि न सः ॥ ८५ ॥

विद्वानों की विद्या का सम्पूर्ण तात्त्विक परिज्ञान, तथा सज्जनों की सभा में प्रशंसित होने का भी परिज्ञान राजा भगीरथ को था । वे समुचित फलों को भी नियोजित करना जानते थे इनमें यदि उनकी प्रगल्भता न होती तो त्रिभुवन में उनके समान कौन है जो अपनी वाणी से सबको सन्तुष्ट कर सके ॥ ८५ ॥

साम्राज्यं यदि सप्तमार्णवतटीविश्राम्यदाज्ञाक्षरं
सौन्दर्यं यदि मुद्रिताः स्मरगिरः साचेन्मतिः को गुरुः ।
शौर्यं चेत्पुनरन्यदेव तदिति स्तोत्रं विचित्रं सतां
शृण्वन्नेव भगीरथक्षितिपतिर्निन्ये सहस्रं समाः ।।८६।।

जिसका आज्ञा सूचक साम्राज्य सप्त समुद्र पर्यन्त विस्तृत है उसके शारीरिक सौन्दर्य में कामोक्तियाँ मुद्रित हैं। ऐसे विद्वान् का गुरु कौन हो सकता है उनकी शूरता ही कुछ और है इस प्रकार सज्जनों के स्तोत्र का श्रवण करते हुये राजा भगीरथ ने हजारों वर्ष व्यतीत किये ॥ ८६ ॥

इति श्रीनीलकण्ठदीक्षितप्रणीते गङ्गावतरणे कथावतारो
नाम प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

द्वितीयः सर्गः

पौरजानपदपार्थिवलोकप्रस्तुतस्तुतिवचोमुखरायाम् ।
जातु संसदि निषद्य सुहृद्भिः संलपन्नति निनाय स कालम् ॥ १ ॥

ग्राम वासियों द्वारा राजाओं के लिये प्रस्तुत की जाने वाली स्तुति वाणी से मुखरित सभा में बैठकर राजा भगीरथ अपने सुहृदों के साथ वार्तालाप करते हुये समय यापन कर रहे थे ॥ १ ॥

स प्रसङ्गकृतसंगति वक्तुं प्रस्तुतं किमपि बान्धववृद्धैः ।
सावधानमशृणोदपदानं सर्वमेव सगरात्मभवानाम् ॥ २ ॥

प्रसंगवश संगति को प्राप्त कर वे राजा भगीरथ अपने बड़े भाइयों से प्रस्तुत सगरात्मजों से सम्बन्धित किसी भी चारित्रिक वक्तव्य को ध्यान से सुनते थे ॥ २ ॥

अश्वमेधमकरोत्सगरो यद्यच्च तत्र तनया विनियुक्ताः ।
अन्वयुर्यदपि ते तुरङ्गं तं यच्च तं शतमखोपजहार ॥ ३ ॥

राजा सगर ने अश्वमेध यज्ञ किया और वहाँ अपने पुत्रों को नियुक्त किया। घोड़े का अनुगमन करने वाले पुत्रों के देखते-देखते इन्द्र ने उसे चुरा लिया ऐसा राजा सगर ने सुना ॥ ३ ॥

यत्ततः सगिरिकेतुवनान्ता तैर्व्यनीयत मही निखिलेयम् ।
यच्च तैः पितृवचोऽनुसरद्भिः सिन्धुरेव समखन्यत भूयः ॥ ४ ॥

तदनन्तर उन पुत्रों ने पर्वत प्रान्त, वनान्त पर्यन्त सम्पूर्ण पृथ्वी का विचरण किया पश्चात् पिता की आज्ञा का अनुसरण करते हुये उन सगरात्मजों ने समुद्र को ही खोद डाला ।! ४ ॥

मन्दिरं फणभृतामवतेरुः सागरोदरपथेन च ते यत् ।
पादकर्णसमवायत एव प्राक्तनैः फणिभिरद्भुतदृष्टाः ॥ ५ ॥

उसके बाद वे समुद्र मार्ग से नागलोक मन्दिर में उतर गये वहाँ पर उनकी पादध्वनि से तत्रस्थ प्राचीन सर्पों ने आश्चर्य के साथ उन्हें देखा ॥ ५ ॥

तं तुरंगमपि यद्ददृशुस्ते तापसस्य कपिलस्य समीपे ।
चोर इत्यमुमभिद्रवतां यद्भस्मतामदित हुंकृतिरस्य ॥ ६ ॥

तदनन्तर उस घोड़े को उन्होंने कपिल मुनि के समीप देखा और चोर

कहकर उन पर आक्रमण कर दिया किन्तु मुनि की हुंकृति से ही वे भस्म हो गये ॥ ६ ॥

अंशुमानपि समेत्य हयं तं यश्चकार सगराध्वरपूर्तिम् ।
सर्वमेतदवकर्ण्य स वीरो विस्मितोऽजनि विषण्णमुखश्च ॥ ७ ॥

सूर्य वंशी राजा असमंजस के पुत्र और महाराजा सगर के पौत्र अंशुमान् ने घोड़ा लाकर सगर यज्ञ को पूर्ण किया ऐसा सुनकर वीर भगीरथ विस्मित और उदासीन हो गये ॥ ७ ॥

दातुमम्बुपरिपारणमेषां कोऽभ्युपाय इति पृच्छति तस्मिन् ।
संनिकर्षमुपसृत्य वसिष्ठः शंसति स्म जगतः सुकृतेन ॥ ८ ॥

अब इनके उद्धार हेतु तिलाञ्जलि देने का क्या उपाय हो सकता है, इस प्रकार भगीरथ के पूछने पर वशिष्ठ जी समीप आकर विश्वकल्याण की भावना से कहने लगे ॥ ८ ॥

कन्यकास्ति कुटिलेति हिमाद्रेर्ज्यायसी स्मरणतोऽप्यघहन्त्री ।
शंकराय वितरीतुममर्त्याः सत्यलोकमनयन्त शिशुं ताम् ॥ ९ ॥

कुटिल गामिनी गङ्गा हिमालय की ज्येष्ठ कन्या है जो स्मरण मात्र से भी पापों का विनाश करती हैं उन्हें देवता गण शंकर जी के लिये सत्य लोक में ले आयें ॥ ९ ॥

आकलय्य विबुधोपहृतां तामष्टभिश्च नयनैर्द्रुहिणः प्राक् ।
नार्हतीश्वरमियं तु वराकी मुच्यतामिति गिरा निरतक्षत् ॥ १० ॥

सर्वप्रथम देवों से लायी गयी उस सुरनदी को शिव के अष्ट नेत्रों से कल्पना करके 'यह वराकी गङ्गा आप के योग्य नहीं है अतः इसे मुक्त कर दीजिये' इस प्रकार कहने पर वे वाणी से सान्त्वना देंगे ॥ १० ॥

उद्यतां किनपि वक्तुमथैनां गर्वितां कमलभूरुपलभ्य ।
शापमित्थमसृजज्जलरूपा सद्य एव भवती भवितेति ॥ ११ ॥

अनन्तर कुछ कहने को उद्यत उस अहंकारिणी गङ्गा को प्राप्त कर ब्रह्मा जी ने 'इसी समय आप जल रूपा हो जाँय' ऐसा अभिशप्त किया ॥ ११ ॥

सा ततो गिरिसुताकलयन्ती तं च निग्रहमनुग्रहमेव ।
ऊर्मिभिः प्रलयसागरघोरैरुत्पपात कवलीकरणाय ॥ १२ ॥

तदनन्तर हिमाद्रि तनया गङ्गा ब्रह्मशाप को अनुग्रह के रूप में धारण करती हुई प्रलय कालिक सागर के समान भयंकर तरङ्गों से सभी को आत्म-सात करने के लिये प्रवाहित हो चलीं ॥ १२ ॥

अप्रतर्कितविधेयमपोढस्थैर्यमर्धविरतश्रुतिपाठम् ।
शुष्कतालु वदनं च तदानीं पद्मभूरपि परिभ्रमति स्म ॥ १३॥

जब गङ्गाजी तीव्र वेग से प्रवाहित हो रही थीं उस समय सभी किंकर्तव्य विमूढ़ हो गये, निःसृत श्रुतिशब्द मध्य में ही विरमित हो गये, सूखे हुये मुख वाले ब्रह्मा भी चारों तरफ घूमने लगे ॥ १३ ॥

सावलेपनिपतत्सुरसिन्धुस्वैरचंक्रमतिरस्करणाय ।
सर्वतः स निगमान्किल सेतूनाबबन्ध चतुरश्चतुरोऽपि ॥ १४ ॥

गर्व के साथ प्रवाहित सुरनदी के स्वच्छन्द भ्रमण को रोकने के लिये चतुर ब्रह्मा ने सभी ओर मार्गावरोधक चार पुलों को बंधवाया ॥ १४ ॥

सा च वामनपुराणवचोभिः स्पष्टमेव विवृता विदिता ते ।
नागलोकमवतार्य नदीं तां देयमम्बु सगरात्मभवेभ्यः ॥ १५ ॥

वामन पुराणोक्त वर्णनों के अनुसार उस सुरनदी के विषय में आपको स्पष्ट रूप से विस्तृत जानकारी है उसी के जल से (नागलोक में अवतरित गङ्गा नदी) सगरात्मजों को जल (निवापाञ्जलि) देना चाहिये ॥ १५ ॥

आशरीरपतनं व्रतचर्यामाचरन्नपि सुपर्णवचोभिः ।
अभ्रसिन्धुमवतारयितुं तामंशुमानपि शशाक न धीरः॥ १६ ॥

जबतक शरीर नष्ट नहीं होता तबतक व्रतचर्या के आचरण का संकल्प करने वाले धीर अंशुमान् भी आकाशगङ्गा को अवतरित करने में समर्थ न हो सके ॥ १६ ॥

तत्सुतोऽपि न ददर्श दिलीपस्तत्समानयनकर्मणि योगम् ।
दृष्टिमत्र निदधासि यदि त्वं सिद्धिमेति नियमादयमर्थः ॥ १७ ॥

अंशुमान् के पुत्र दिलीप भी उन्हीं की भाँति गङ्गावतरण में परिणाम का अवलोकन न कर सके यदि तुम इस कार्य में दत्तदृष्टि हो सको तो नियम से यह प्रयोजन सफल हो सकता है ॥ १७ ॥

इत्थमूचिषि मुनौ करणीयं निश्चिकाय न तु तं निजगाद ।
सिद्धमप्यभिलषन्ति न सन्तः का प्रसक्तिरपि साधयितव्ये ॥१८॥

वशिष्ठ मुनि के इस प्रकार कहने पर उन्होंने (भगीरथ ने) इस कार्य को करने का निश्चय किया किन्तु मुनि से इस विषय में कुछ भी नहीं कहा । क्योंकि सज्जन साधनाकार्य में संलग्नता की बात तो दूर, सफलता का अभिलाष भी नहीं रखते ॥ १८ ॥

सेत्स्यतीति यदवादि भवद्भिः सिद्धमेव तु ततोऽभिमतं नः।
इत्युदीर्य स विसृष्टसमाजः पार्थिवः प्रतिययाववरोधम् ॥ १९ ॥

आपके कथनानुसार ही सफलता मिल सकती है यह मुझे अभीष्ट है। इस प्रकार कहकर एवं सभा को विसर्जित करके वे राजा भगीरथ अन्तःपुर चले गये ॥ १९ ॥

सोऽथ जातु नृपतिः परितुष्टादाशिषं समधिगम्य वसिष्ठात्।
निर्ययौ सुरनदीमुपनेतुं न्यस्य राज्यमखिलं सचिवेषु ॥ २० ॥

किसी समय राजा भगीरथ सन्तुष्ट वशिष्ठ से आशीष प्राप्तकर एवं सम्पूर्ण राज्य को सचिवों के हाथ पर सौंपकर सुरनदी को लाने के लिये निकल पड़े ॥ २० ॥

तीरसीमनि स दक्षिणसिन्धोराश्रमं कमपि संपरिकल्प्य।
आरराध नियमैरतिमात्रैर्देवमम्बुजभवं नरदेवः ॥ २१ ॥

वे राजा भगीरथ दक्षिण समुद्र के किनारे कोई आश्रम बनाकर नियम पूर्वक ब्रह्मा की अत्यधिक आराधना करने लगे ॥ २१ ॥

हेमकुम्भसलिलैरभिषिक्तो मौलिरस्य मुनिवेषधरस्य।
वीचिकासु लवणासु पयोधेर्वीतशङ्कमहनि त्रिरमज्जत् ॥२२॥

मुनि वेषधारी राजा भगीरथ के सिर को स्वर्णघटों के जल से अभिषिक्त किया गया। तदनन्तर वे तीन दिन तक समुद्र की क्षार जलवीचियों में निःशङ्क रूप से निमज्जित रहे ॥ २२ ॥

आश्रमं नगरमासनदर्भान्भद्रपीठमुटजं मणिवेश्म।
संभ्रमाद्व्यवहरन्क्षितिपालोऽलज्जत त्रिचतुराणि दिनानि ॥२३॥

कहाँ मणिनिर्मित गृहों से युक्त नगर, कहाँ कुशासन तथा वेदिका निर्मित पर्णकुटिया वाला आश्रम? ऐसा सम्भ्रम होने पर व्यवहार करते समय राजा भगीरथ तीन, चार दिनों तक लज्जित होते रहे ॥ २३ ॥

स क्षणादजयदासनभेदाञ्शिक्षणाच्चिरतरं खुरलीषु।
जानता निखिलमभ्यसितव्यं कस्य कुत्र न भवेदुपयोगः ॥२४॥

राजा भगीरथ ने अस्त्र-शस्त्रों के शिक्षणजन्य चिरन्तन अभ्यास को विस्मृत कर योगासन को प्राप्त किया। सम्पूर्ण आसनों के परिज्ञान से कहाँ किसका उपयोग नहीं हो सकता, अर्थात् अभ्यास निरर्थक नहीं होता ॥ २४ ॥

अत्यशेत समुनीनपि दिव्यान्वासरैः कतिपयैर्वसुधेशः।
संस्तवे भवतु नाम बिलम्बः संस्तुतं मतिमतां किमसाध्यम् ॥२५॥

राजा भगीरथ ने कुछ ही दिनों में दिव्य मुनियों को प्राप्त किया, परिचय में बिलम्ब हो सकता है, बुद्धिमानों से परिचित होने पर क्या सफल नहीं हो सकता ? ॥ २५ ॥

किं स पूर्वमपि नाजयदक्षान्किं तु वा न ववृते शुचिरेवम्।
तस्य केव तपसा परिहानिः प्रत्युतैष न ररक्ष तदोर्वीम् ॥ २६ ॥

तप के पूर्व भी राजा भगीरथ ने इन्द्रियों को क्या नहीं जीता था ? किन्तु इस प्रकार की अलौकिक पवित्रता का अनुभव नहीं हुआ था। उनकी इस तपस्या से क्या हानि है। बल्कि उस समय तो उन्होंने पृथ्वी की रक्षा भी नहीं की ॥ २६ ॥

स्वं च राज्यमपहाय सतोऽस्य स्वर्गराज्यमिति तत्कियदास्ते।
तद्विदरुच्छतमखो न शशङ्के तत्तपश्चरणतः कणशोऽपि ॥ २७ ॥

राज्य को छोड़कर स्वर्ग में रहने वाले भगीरथ यहाँ स्वर्ग में निवास कर रहे हैं ऐसा जानते हुये भी इन्द्र उनकी तपस्या से लेशमात्र भी शङ्कित नहीं हुआ ॥ २७ ॥

बाहुजोऽयमथ भानुकुलीनस्तत्र चाप्रतिभटः स्वमहिम्ना।
तावतापि तपसा यदि युक्तस्तत्समीक्षितुमपि क्षमते कः ॥२८॥

राजा भगीरथ सूर्यवंशी हैं और अपनी महिमा से अद्वितीय योद्धा भी हैं। यदि इन्होंने इतना कठोर तप किया है तो इन्हें देखने में कौन समर्थ होगा ? ॥ २८ ॥

यद्गजेषु तुरगेषु भटेषु क्षोणिषु क्षितिपतिष्वपि सक्तम्।
तन्मनस्तत इतोऽपि विकृष्य स्थापितं तपसि तेन कठोरे ॥२९॥

भगीरथ का वह मन जो कभी हाथी, घोड़े, योद्धा और सेना में लगा था उन्होंने उसे वहाँ से अलग कर कठोर तप में उसे लगा दिया ॥ २९ ॥

नान्नमाद्रियत नाम्बु न मूलं का भविष्यति कथापि फलानाम्।
मारुतं परमभुङ्क्त निदाघस्तं च हर्तुमिव तस्य तदाभूत् ॥ ३० ॥

उन्होंने कन्द मूल अन्नादिकों का आदर नहीं किया यानी परित्याग कर दिया; तो फलों की बात ही क्या होगी ? वे केवल वायु पान करते थे। तीव्र घर्म उस समय ऐसा लग रहा था मानो वह उनका अपहरण कर रहा हो ॥ ३० ॥

चण्डमारुतचलन्मृदुघासग्रासलालसतया गतिमान्द्यम्।
प्रस्तुवत्यहिमभानुतुरङ्गे द्राघिमाणमलभन्त दिनानि ॥ ३१ ॥

तीव्र किरणों वाले असह्य सूर्य के उपस्थित होने पर मानों प्रचण्ड वायु के चलने से सूर्य के घोड़े तृण कवलों को चरने की लालसा से मन्दगति कर दिए जिसके कारण दिन बहुत बड़े हो जाते थे ॥ ३१ ॥

तापमातपतरङ्गितमुच्चैः क्षन्तुमक्षमतया दिनलक्ष्मीः ।
किं चिरायति निशेति वितीर्णोद्ग्राहिकेव वपुरायतमूहे ॥३२॥

घर्म प्रवर्धित सन्ताप को सहन करने में असमर्थ होने से दिनश्री क्या इसीलिये विलम्ब से आती है ? इस प्रकार राजा भगीरथ ने प्रलम्बिताकृति की तरह भयानक निशा को देखा ॥ ३२ ॥

वक्रचंक्रमणवल्गनधाटीमण्डलभ्रमणमन्दगतानि ।
सादिनः स्वयमशिक्ष्यत घर्मात्तुन्दिलो मदनजैत्रतुरङ्गः ॥ ३३ ॥

टेढ़ी-मेढ़ी चाल से उछल-उछल कर चलने और निरन्तर पृष्ठाग्र गर्दन के घुमाने से घर्म तुन्दिल (मोटा) मदनाश्व ने स्वयं सीख लिया ॥ ३३ ॥

आरुरोह गिरिमाप वनान्तानभ्रमीदनुदिशं परिधाव्य ।
अग्रहीदपि तृणानि समीरो निग्रहैकरतिभाजि निदाघे ॥३४॥

पर्वतारोही वायु ने वन प्रान्त को प्राप्त कर दिशाओं में व्याप्त होकर निग्रह ही प्रधान है जिसमें ऐसे तीव्रातप वाले दिनों में उसने भी तृणों का संग्रह किया । अर्थात् वहाँ निरन्तर बवंडर (गोलाकार वायु) चल रहा था ॥३४॥

भानुभिः प्रलय पावकतीव्रैरापिबत्युदकमम्बुजबन्धौ ।
दूरदूरमपदिश्य मरीचीर्दुद्रुवुर्दिशि दिशीव सरस्यः ॥ ३५ ॥

प्रलयाग्नि के समान तीव्र किरणों से सूर्य के पान करने पर चारों तरफ दूर-दूर मृगमरीचियाँ ही दिखाई पड़ रही थीं ऐसा लगता था मानों नदियाँ दिशाओं में दूर तक फैली हैं ॥ ३५ ॥

शक्यमञ्जलिपुटैः सलिलार्द्रैः सान्द्रमातपभरं प्रविकीर्य ।
जीर्णपर्णजटिलानि तदानीं विश्वमुज्ज्वलयितुं विपिनानि ॥३६॥

उस समय अरण्य के जीर्ण-शीर्ण पत्तों को अञ्जलिबद्ध जल की आर्द्रता (गीलापन) से सघन धूप में फैला कर पूरे विश्व को जलाया जा सकता था ॥ ३६ ॥

अङ्किताः किमपि शैवलखण्डैरातपाच्छकलितैरसिनीलाः ।
कोण एव सरितामवहन्त प्रान्तलीनपथिका जलवेण्यः ॥३७॥

घाम से टुकड़े-टुकड़े रूप में विभाजित सेवार खण्डों से कुछ चिह्नित

रूप में पथिका की तरह एक तरफ सरिता में जल-वीचियाँ नियन्त्रित हैं ॥ ३७ ॥

कामिनः पथि तलेषु तरूणां गाढनम्रविटपेषु निवेश्य ।
अध्वखेदमहरन्त वधूनामम्बुभिः कमलिनीदलनीतैः ॥३८॥

कामी पुरुष मार्ग में घनीभूत शाखा वाले वृक्षों के नीचे बैठकर कमलिनी के पत्ते में लाये हुये जल से प्रेयसियों का मार्गजन्य श्रम दूर करते थे ॥ ३८ ॥

उत्तरीयमहरत्कुचकुम्भादुन्ममार्ज मुखघर्मपयांसि ।
अङ्गमङ्गमपि पान्थवधूनामालिलिङ्ग सुकृती वनवातः ॥ ३९ ॥

जंगली होने पर भी भाग्यशाली वायु ने प्रेयसियों के स्तनों को आच्छादित करने वाले दुपट्टे को हटा दिया । मुख में घर्मजन्य बिन्दुओं को दूर किया इस प्रकार पथिकों की वधुओं के अङ्ग-प्रत्यङ्गों का भी उसने आलिङ्गन किया ॥ ३९ ॥

आगतैरपि पथातिविदूरादध्वगैस्तरुतलेषु निषद्य ।
स्पन्दितुं च पटुभिर्न बभूवे संनिकृष्टसलिलग्रहणाय ॥ ४० ॥

सुदूर मार्ग से आने वाले पथिकों का पटु समूह जब वृक्षों के नीचे बैठ गया तो कोई भी आलस्य के कारण प्यास रहने पर भी जल प्राप्त करने के लिये हिल भी न सका ॥ ४० ॥

किं प्रपासु कुहचित्तरुणीनामास्पदं कुचतटेष्वधिगम्य ।
विध्यति स्म विजने पथि पान्थान्कुण्ठविक्रमतया कुसुमास्त्रः ॥४१॥

उस निर्जन पथ में तरुणियों को क्षुद्र जलाशय रूपी उचित स्थान में प्राप्त कर कुण्ठित पराक्रम के कारण (थके होने से) कामदेव क्या पथिकों पर बाण वृष्टि कर रहा था ॥ ४१ ॥

सत्यपि श्रमविनोदिनि कामं तालवृन्तपवने तरुणानाम् ।
प्रेमभाजनमभूत्परमेकः प्रेयसीकुचदुकूलसमीरः ॥ ४२ ॥

युवकों के विनोदार्थ पर्याप्त शीतल वायु के स्पन्दित होने पर भी उस समय प्रेयसियों का स्तनांशुकजन्य वायु एकमात्र प्रेमपात्रता को प्राप्त हो सका ॥ ४२ ॥

फूत्कृतैरजहदूष्मतरङ्गै भूयसा मसृणितोष्ठदलानि ।
अस्वदन्त सुदृशामभिकेभ्यो मुग्धघर्मकणितानि मुखानि ॥४३॥

फूत्कार जन्य ग्रीष्म तरङ्गों से अत्यधिक मात्रा में स्निग्ध अधरोष्ठ खुल गये सुन्दर नेत्रों वाली मुग्धाङ्गनाओं के स्वेदकणालंकृत मुखों का कामियों ने रसास्वादन किया ॥ ४३ ॥

न प्रणामरचनैर्न चटूक्त्या न व्यनीयत सखीवचनैर्यत् ।
कञ्चुकं तदपनिन्युरुरोजात्कामिलोकसुकृतेन नवोढाः ॥४४॥

अनेक प्रणाम, चाटुकारिता और सखियों के कहने पर भी जिस स्तनांशुक को नव विवाहिताओं ने नहीं हटाया यहाँ कामियों के भाग्य से उसको स्वयं अलग कर दिया ॥ ४४ ॥

मारुतो न मधुरप्युपरेमे किं पिकैरमुखैरिति खिन्नः ।
संदधे धनुषि नैव मनोजः सायकं त्रिचतुराणि दिनानि ॥ ४५ ॥

कोयलों को न कूजने पर खिन्न होने से क्या वासन्ती पवन नहीं बह रहा है संभवतः यही कारण है कि कामदेव ने इसीलिये तीन चार दिनों तक धनुष पर बाण नहीं चढ़ाया ॥ ४५ ॥

हारदाम्नि हरिचन्दनपङ्के शीतरोचिषि शिरीषदलेषु ।
कामिनीकुचतटेषु च लिल्ये पञ्चभिः किमसुभिः कुसुमेषोः ॥४६॥

हारदामन, हरिचन्दन, चन्द्रमा, शिरीष पुष्प और कामिनी का स्तन तट क्या इनके निर्माण में कामदेव के पञ्चबाण[1] का उपयोग हुआ है ॥ ४६ ॥

सर्वरात्रमपि संल्पनाद्यैर्विभ्रमैः समपनीय विभाते ।
अप्रमर्दितकुचं युवतीनामङ्कपालिमलभन्त युवानः ॥ ४७ ॥

शृङ्गारजन्य प्राथमिक विलासों में ही पूरी रात व्यतीत कर प्रातःकाल युवतियों के अप्रमर्दित स्तनों का युवकों ने आलिङ्गन प्राप्त किया ॥४७॥

नास्ति मन्दपवनो न वसन्तः कूणितं च चरितं कुसुमेषोः ।
तावता विरहिणां किमिवासीत्तेषु मन्मथकणोऽपि कृतान्तः ॥४८॥

न मन्द पवन चल रहा है, न तो वह वसन्त है और कामदेव का व्यापार भी इस समय बन्द है तो फिर क्या वियोगियों में यह प्रभाव भस्मीभूत उसके कण मात्र का है ॥ ४८ ॥

---

१. अरविन्दमशोकं च चूतं च नवमल्लिका ।
नीलोत्पलं च पञ्चैते पञ्चबाणस्य सायकाः ॥

अन्यच्च—

सम्मोहनोन्मादौ च शोषणस्तापनस्तथा ।
स्तम्भनश्चेति कामस्य पञ्चबाणाः प्रकीर्तिताः ॥

अन्नमन्यदवमन्य यमेकं सेवते सुलभ इत्यहिलोकः।
सोऽपि नैव सुलभो मरुदासीर्दुर्जयो जगति दैवनियोगः ॥४९॥

यह नागलोक अन्न को तिरस्कृत कर सुलभ होने से केवल वायु का ही सेवन करता है। वह वायु भी इस समय दुर्लभ है, संसार में विधि का विधान अनतिक्रमणीय है ॥ ४९ ॥

प्राणिमात्रपरिजीवनहेतोः शत्रवस्त्रय इमे पवनस्य।
शुष्कतापसनिदाघभुजंगास्ते पतन्ति निरये क्व न विद्मः ॥५०॥

सभी प्राणियों को जीवित रखने वाले पवन के ये तीन शत्रु हैं—शुष्क तपस्वी, निदाघ और भुजंग। उपकारी पवन के प्रति अपकारी होने से इन्हें नरक क्यों नहीं होता यह मैं नहीं जानता ॥ ५० ॥

उष्णमम्बुरविरुग्रमयूखः सान्द्रमुर्मुरकिरश्च समीरः।
भूः पफाल पुनरः कथमासीत्पान्थपातकिदशापरिपाकः ॥५१॥

तपन से जल गर्म है, सूर्य किरणें प्रतप्त हैं, घनीभूत सन्तप्त हवा बह रही है उसमें भी पृथ्वी फलीभूत है! अहह ऐसी स्थिति में निर्धन निम्न वर्गीय पथिकों की स्थिति कैसी होगी ? ॥ ५१ ॥

स्वापकालमनुपाल्य गुरूणां विप्रलभ्य च चिरेण सपत्नीः।
प्रस्थितासु कुलिटास्वपि घर्मैः पातकी किमपि नानुचकम्पे ॥५२॥

निद्रा समय का पालन कर और विलम्ब से गुरुओं की पत्नियों को वंचित करके प्रस्थित कुलटाओं में भी पातकी ने घर्म से कोई अनुकम्पा नहीं की ॥ ५२ ॥

वारिविभ्रममहोत्सवदानैर्यं पुरा परिचचार निदाघः।
तापमस्य विततार तदासौ किं भिदा न धनिनां कृपणेभ्यः ॥५३॥

जलों के भँवर रूपी महोत्सव दान से जिसने पहले जिसका परिचरण किया था क्या वही सूर्य ने उसके ताप की वृद्धि की, यदि ऐसा है तो धनियों का कृपणों से क्या भेद हो सकता है ? ॥ ५३ ॥

तौ परस्परमहः परिणामस्पर्धयेव नृपतिः सविता च।
गाढयौवनमुपेयुषि घर्मे दुर्निरीक्ष्यतरतामवहेताम् ॥ ५४ ॥

राजा और सूर्य परस्पर परिणाम की प्रतिस्पर्धा से ही दोनों समान हैं जैसे पूर्ण युवावस्था में राजा को देखना (शत्रुता करना) कठिन है उसी प्रकार दोपहर के समय तीव्रघर्म से सूर्य की तरफ देखना भी कठिन है ॥५४॥

स्नातुमम्बु न कुतश्चन लभ्यं पातुमस्ति न कथाप्यनिलस्य ।
स्थातुमास्त यमिनां तरुमूलं दूषितं तदपि दावशिखाभिः ॥ ५५ ॥

कहीं पर स्नानार्थ जल अनुपलब्ध है, पीने के लिये हवा का कोई प्रश्न ही नहीं ! पथिकों को बैठने के लिए वृक्षों की जड़े भी तेज चलने वाली लू से दूषित हैं ॥ ५५ ॥

यावदित्थमधिकोऽजनि घर्मस्तावदस्य तपसा विजजृम्भे ।
तद्विपाकचकिता दिवि देवास्तापमापुरवनेरपि तीव्रम् ॥ ५६ ॥

इस प्रकार तीव्र घर्म सन्ताप भगीरथ के तपोजन्य तेज से और भी अधिक बढ़ने लगा, स्वर्गस्थ देवता भी उष्णता की पराकाष्ठा से चकित होकर पृथ्वी-जन्य तीव्रावस्था को प्राप्त होने लगे ॥ ५६ ॥

तिष्ठतस्तपसि तस्य कठोरे काङ्क्षतश्च सुरसिन्धुनिपातम् ।
वासरा निमिषवत्समतीयुर्वासरा इव समांश्च सहस्रम् ॥ ५७ ॥

इस प्रकार राजा भगीरथ के कठोर तप करने पर और सुरनदी (गंगा) के अवतरण की आकाङ्क्षा से निमिष के समान दिन हजारों दिनों की तरह लगने लगा । अर्थात् छोटे दिन बड़े लगने लगे ॥ ५७ ॥

तं कदाचिदुपसृत्य विरिञ्चिस्तस्य दृष्टिपथमप्युपगम्य ।
अर्थ्यतामभिमतं वितरामीत्याह वाग्भिरमृतस्नपिताभिः ॥ ५८ ॥

किसी समय उनके समीप जाकर प्रत्यक्ष रूप में ब्रह्मा जी उपस्थित हुये और अमृतमयी वाणी से 'अभीष्ट माँग लो, प्रदान करूँगा' इस प्रकार भगीरथ से कहा ॥ ५८ ॥

तत्क्षणं प्रमुदितः क्षितिपालस्तन्निशम्य वचनं द्रुहिणस्य ।
स्तोतुमारभत चारणलोकस्तूयमानचरितः स्वयमेनम् ॥५९॥

चारण (वन्दी) समूह से स्तुत्य चरित वाले राजा भगीरथ ब्रह्मा के उस वचन को सुनकर तत्क्षण बड़े प्रमुदित हुये और उनकी स्तुति करने लगे ॥ ५९ ॥

त्वत्प्रसूतमवतो हरतोऽपि स्यादुपासनविधिर्यदि धातः ।
त्वं कियत्कियदिवासि न वन्द्यस्तत्त्वदर्शनपरैर्मतिमद्भिः ॥ ६० ॥

हे ब्रह्मन्, तुम्हें उत्पन्न करने वाले कमल को जानने वाले शिव से भी यदि तुम्हारी उपासना हो सकती है तो तत्त्वदर्शी विचारवाले विद्वानों से किस-किस तरह आप वन्दनीय नहीं हैं ? अर्थात् आप सर्वथा वन्द्य हैं ॥ ६० ॥

त्वादृशा जनिमता शयितव्यं त्वादृशा च ननु जागरितव्यम् ।
यत्र हि स्वपिति नश्यति लोको यत्र जाग्रति पुनः समुदेति ॥६१॥

हे सृष्टिकर्ता, आप को शयन नहीं करना चाहिए; आप जैसों का जागरण ही उचित है यदि आप सोते हैं तो लोक-विनाश होता है यदि जागते हैं तो लोकाभ्युदय होता है ॥ ६१ ॥

भारतीपरिवृढस्य पुरस्ते वागियं न परिहासपदं किम् ।
नृत्यतः पुरहरस्य पुरस्तान्नृत्यतां स्थितिरिव प्रमथानाम् ॥६२॥

वेद निःसृत होने से वाणी की प्रधानता के कारण आप के लिये हमारी वाणी क्या हास्यास्पद नहीं है ? क्योंकि ताण्डव नृत्य करनेवाले शंकर जी के साथ नाचने वाले ३६ करोड़ प्रमथ गणों की क्या गणना ? ॥ ६२ ॥

हुंकृतेन कपिलस्य महर्षेर्भस्मतामुपगताः पितरो मे ।
स्वर्गसिन्धुसलिलेष्विह तेषामस्तु मत्करपुटेन निवापः ॥६३॥

महर्षि कपिल मुनि की हुँकृति से भस्मीभूत मेरे पितरगण इस सुरनदी (गंगा) के जल से मेरे द्वारा निवापाञ्जलि प्राप्त करें ॥ ६३ ॥

तस्य प्रतिश्रुत्य तथेति देवः प्रदर्श्य गङ्गामपि पार्श्व एव ।
तिरोभवत्पश्यत एव तस्य वक्त्रैः समस्तागमवावदूकैः ॥ ६४ ॥

राजा भगीरथ के वचन को सुनकर 'तथास्तु' के साथ गङ्गा को समीप में ही दिखाकर सभी वेदशास्त्रों की वक्तृता के साथ देखते ही देखते ब्रह्मा जी अन्तर्धान हो गये ॥ ६४ ॥

संव्यानमूर्मिलतिकाव्यतिषङ्गलब्ध-
फेनानुलेपमिव पाण्डरमावहन्तीम् ।
पश्यन्पुरस्तनुमतीं सुरलोकसिन्धुं
सिद्धं मनोरथममंस्त दिलीपसूनुः ॥ ६५ ॥

तरङ्गलता के सङ्गमजन्य संघर्ष से उत्पन्न फेनिलानुलेप की तरह शुभ्रता को धारण करती हुई शरीरिणी सुरनदी को अपने सामने देखते हुये दिलीप पुत्र भगीरथ ने अपना मनोरथ सफल माना ॥ ६५ ॥

इति श्रीनीलकण्ठदीक्षितप्रणीते गङ्गावतरणे भगीरथवरलाभो
नाम द्वितीयः सर्गः ॥२॥

अथ तृतीयः सर्गः

ततः प्रणामैः स्तुतिभिश्च पार्थिवं प्रसादयन्तं सुरलोकवाहिनी ।
जगाद सद्यो जगदण्डमण्डलं निमज्जयन्तीव वचोभिरेव सा ॥१॥

तदनन्तर प्रणाम और स्तुतियों से सुरनदी को प्रसन्न करने वाले राजा भगीरथ से देवलोक को धारण करने वाली सुरनदी तत्क्षण ही अपने तरङ्गों में विश्व को मानों डुबोती हुयी बोली ॥ १ ॥

प्रविष्टमात्रास्वपि मे रसातलं प्रवाहनासीरतरङ्गपङ्क्तिषु ।
पतेदलाबूफलकर्परोपमं विभिद्य विध्यण्डकपालसंपुटः ॥ २ ॥

प्रवाहित ध्वनितरङ्गों की पङ्क्तियों के साथ पृथ्वी पर मेरे अवतरण से अलग होकर पानी में तुम्बी की तरह तैरने वाली खोपड़ियों का समूह उपस्थित हो जायेगा ॥ २ ॥

मदम्बुसंपातविधूतकल्मषैर्महीश पूर्वैस्तव यत्र वत्स्यते ।
स एव लोको यदि मत्पयोजवात्पथि प्रलीयेत फलेत्तपस्तव ॥३॥

जिस स्थान में आपके पूर्वजों ने निवास किया था मेरे जल के प्रभाव से वे कलमष रहित होंगे किन्तु वही स्थान मार्ग में मेरे जलवेग से यदि प्रलय हो जाय तो क्या तभी तुम्हारा तप फलीभूत होगा ? ॥ ३ ॥

महर्षिरोषग्लपितान्समुद्धरन्महीभुजः कानपि लिप्ससे यशः ।
अवेक्षसे नैव जगत्त्रयीजुषामकाण्डसंवर्तविधानपातकम् ॥४॥

कपिल मुनि के क्रोध से भस्मीभूत कुछ ही राजाओं का उद्धार करते हुये आप कौन सा यश प्राप्त करना चाहते हैं और तीन लोक की विजयिनी सहसा अमित मेरी तीव्र गति को आप जानते ही नहीं ॥ ४ ॥

पतत्युदारे पयसांभरे मम प्रसह्य राजन्गिरिराजमौलिषु ।
समुत्पतच्छीकरवर्षदुर्दिनं चतुर्मुखो धाम किमावसेन्निजम् ॥५॥

हे राजन्, हिमालय में मेरे जल के विशाल प्रपात होने पर ब्रह्मा जी छोटे-छोटे जल कणों के दुर्दिनग्रस्त ब्रह्मलोक में क्या रह सकेंगे ॥ ५ ॥

ससर्ज कल्पादिषु विष्टपत्रयीं स योगमास्थाय कियन्तमात्मभूः ।
कथावशेषीक्रियतां मया पुनः कथं पतामीति गिरैकयैव सा ॥६॥

ब्रह्मा ने अनेक कल्पों में कितने योग ग्रहण से तीन लोकों का निर्माण

किया, क्यों मेरे द्वारा उसका विनाश किया जाय ? इस प्रकार मेरा पतन सर्वथा अनुचित है ऐसा गङ्गा जी ने राजा भगीरथ से कहा ॥ ६ ॥

अचिन्तयित्वा कृतिगौरवं विधेरपि त्यजन्ती करुणां शरीरिषु।
पताम्यहं यद्यपि कुत्र वा भवन्भवान्निवापाञ्जलिमाचरिष्यति ॥६॥

ब्रह्मा की सृष्टि-गुरुता को न सोचकर देहधारियों के प्रति करुणा को छोड़कर यदि मैं गिरती हूँ तो किस स्थान में आप पितरों का श्राद्ध करेंगे ॥ ७ ॥

पतेयमप्यर्थितसाधनाय ते निगृह्य वेगं निखिलं बलादहम्।
परिप्लवाः क्षुद्रतया मदूर्मयः परं तु नेमे वचसि स्थिता मम ॥८॥

मैं अपने बल से सम्पूर्ण वेग को रोक कर आप के प्रयोजनार्थ यदि गिरती हूँ तो क्षुद्रता के कारण ये तरङ्गें मेरा कहना न मानकर मन्द गति से नहीं गिरेंगी ॥ ८ ॥

प्रदर्श्यतां कस्य पुरः पयोजवो निवेद्यतां वा नृप केवलं गिरा।
न सन्निकर्षे वडवामुखानलो न वा स योगी चुलुकीकृतार्णवः ॥९॥

हे राजन्, मेरा जल-प्रपात किसी के समक्ष दिखाया नहीं जा सकता; मात्र वाणी से कहा जा सकता है। मेरे जल-प्रपात को वडवाग्नि और चुल्लू से समुद्र पान करने वाले योगी अगस्त्य भी नहीं धारण कर सकते ॥ ९ ॥

विषादमभ्येमि भुवं पदे पदे विपद्यमानामनुचिन्त्य यद्यपि।
तथापि नन्दामि चिरोपसंभृतां तरङ्गकण्डूमपनेष्यता त्वया ॥१०॥

यद्यपि पृथ्वी पर पदे पदे अपनी विपद्यमानता को सोचकर विषाद प्राप्त कर रही हूँ तथापि बहुत समय से धारण की गयी तरङ्गों को तुम्हारे द्वारा मुक्त कराने के प्रयास की मैं प्रशंसा करती हूँ ॥ १० ॥

प्रवेष्टुमभ्रेण पथा रसातलं हठाद्विशन्त्याममरावतीं मयि।
पुनः स्वहस्तार्पितचन्दनाङ्कितं शचीमुखं द्रक्ष्यति किं पुरन्दरः ॥११॥

आकाश मार्ग से हठपूर्वक रसातल में प्रवेश करने के लिये मेरे अमरावती में प्रवेश करने के बाद स्वहस्त निर्मित चन्दनपत्रावली वाले इन्द्राणी के मुख को क्या पुनः इन्द्र देख सकेंगे ॥ ११ ॥

अपि प्रकृत्या यदचञ्चलं जलं तदप्यलं यां ग्रसितुं महोदधेः।
पदं भवेन्नाम समग्ररंहसां मदम्भसां किं न्वियमेव मेदिनी ॥१२॥

स्वभाव से चञ्चल रहित महासमुद्र का जल जिस पृथ्वी को समेटने में

समर्थ हो सकता है तो क्या सम्पूर्ण वेग वाले मेरे जलों को धारण करने वाली यही पृथ्वी हो सकती है ? ॥ १२ ॥

इति प्रसन्नं मधुरं च वाङ्मयं प्रवाहमात्मीयमिवोद्गिरन्त्यसौ ।
क्षणं व्यरंसीदिव यं सुरापगा तमेव लेभे वचनक्षणं नृपः ॥ १३ ॥

इस प्रकार अपने प्रवाह की तरह स्वच्छ एवं मधुर वाणी का उच्चारण करती हुई सुरनदी जैसे ही कुछ विरमित हुई राजा भगीरथ ने तत्क्षण ही बोलने का अवसर प्राप्त कर लिया ॥ १३ ॥

ससर्ज यस्त्वां त्रिजगन्नियामकश्चतुर्मुखः सोऽपि यदि त्वमूर्मिभिः ।
अवापितस्तत्क्षणमात्मसंशयं कथैव का स्याज्जगतो विनश्यतः ॥१४॥

तीन लोकों के नियामक चतुर्मुख ब्रह्मा ने तरङ्गों के साथ आपकी रचना की यदि वे भी उस समय संदेह में पड़ गये तो जगत के विनाश की बात ही क्या ? ॥ १४ ॥

महात्मतां यद्यपि ते महापगे न वेद वेधा न हरिर्न शंकरः ।
तथापि पौराणिकसंकथामुखात्कियत्कियद्देवि गृहीतवानहम् ॥१५॥

यद्यपि ब्रह्मा, विष्णु, महेश आप की तीव्रगामी वेग स्वरूप को नहीं जानते तथापि मैंने पुराण वर्णित कथा श्रवण से कुछ-कुछ समझने का प्रयास किया है ॥ १५ ॥

अतो न किञ्चित्प्रतिवक्तुमुत्सहे भवत्प्रवाहावतरोपपादकम् ।
परं तु मय्यम्ब दयोर्मिला दृशः पतन्तु ते किंचिदिति प्रसादये ॥१६॥

अतः आप के प्रवाहपूर्ण अवतरण के विषय में प्रत्युत्तर करने में मैं सर्वथा असमर्थ हूँ। फिर भी यदि मुझ पर आपकी तरङ्ग रूपी दयादृष्टि है तो हे माँ, स्वल्पावतरण हो, मैं यही चाहता हूँ ॥ १६ ॥

प्रसाद्यमाना मुहिरित्थमुक्तिभिर्भगीरथाय प्रससाद सा ततः ।
अपि स्वयात्रानुपपत्तिगोचरामनेन च प्रास्तुत संकथां मिथः ॥१७॥

सूक्तियों से बार-बार प्रसन्न की जाती हुई सुरनदी राजा भगीरथ पर प्रसन्न हो गयी और अपनी यात्रा सम्बन्धित जानकारी की कथा को भगीरथ के समक्ष प्रस्तुत किया ॥ १७ ॥

मदुक्तयुक्त्या नृपते मया विना प्रतिप्रयातुं यदि ते न रोचते ।
अनेन रूपेण परं रसातलं प्रवेक्ष्यते तर्हि भवत्कृते मया ॥ १८ ॥

मेरे कथनानुसार यदि मेरे बिना आप प्रस्थान करना नहीं चाहते तो आप के लिए पृथ्वी पर मैं इस प्रकार उतरना चाहूँगी ॥ १८ ॥

सुरापगास्रोतसि पूर्वभूभुजां कदा प्रदास्यामि जलाञ्जलीनिति ।
तपस्यतो मे फलमस्ति किं त्वया प्रवाहरूपं परिहृत्य नीतया ॥१९॥

सुरनदी के स्रोत में मैं कब अपने पूर्वज राजपितरों को जलाञ्जलि प्रदान करूँगा ? अगर आप का अवतरण नहीं हुआ तो उसके लिये की गयी मेरी तपस्या का फल ही क्या मिला ? ॥ १९ ॥

ग्रहस्तवायं यदि तात तर्हि तां गृहाण गङ्गाममरावतीं गताम् ।
भणन्ति लक्ष्मीदयिताङ्घ्रिताडनप्रभिन्नविध्यण्डपरिस्रुतेति याम् ॥२०॥

जिस सुरनदी को लोग विष्णु भगवान् के चरणों से निकली हुई कहते हैं यदि तुम्हारा हठ है तो उस अमरावती की गङ्गा को तुम प्राप्त कर सकते हो ॥ २० ॥

न पातुमम्भो भवतीमिहार्थये परःसहस्रा भुवि सन्ति सिन्धवः ।
न चाम्बुदिव्यं ननु सन्ति वृष्टयः परं तु लिप्से तव पावनं पयः ॥२१॥

पृथ्वी पर हजारों नदियाँ हैं मैं आपके जल को पीने के लिये याचना नहीं कर रहा हूँ । साथ ही आकाश से प्रपात रूप में दिव्य वृष्टि भी होती है किन्तु मैं पवित्रता के कारण आप के जल की कामना करता हूँ ॥ २१ ॥

यदीदमेवेच्छसि याहि भूतलं गृहाण भस्मान्युपयाहि मां पुनः ।
ममान्वगागच्छ विधातुरालयं मनोरथं साधय मज्जलैस्ततः ॥२२॥

यदि आप के पितरों का उद्धार मेरे जल से ही संभव है तो आप पृथ्वी पर लौट जाँय और पितरों की भस्म लेकर मेरे पीछे पीछे ब्रह्मलोक में आकर अपना मनोरथ सफल करें ॥ २२ ॥

कथंचिदेनः कपिलापराधजं पितामहानामपनेतुमिच्छता ।
अकर्मभूमावधिगत्य तावकं पयः किमम्ब प्रतिपद्यतां मया ॥२३॥

हे माँ, कपिल मुनि के अपराध से उत्पन्न पितरों के पाप को दूर करने की इच्छा रखने वाला मैं अकर्म (ब्रह्मलोक) भूमि में आप के जल को ग्रहण करके मुझे क्या करना है ? ॥ २३ ॥

सुशिक्षितस्त्वं यदि वृद्धसेवया श्रुतिस्मृतिभ्यामुपदर्शिते पथि ।
विधित्ससे किं नु विकृष्य मां बलादकर्मभूमावहिराजवेश्मनि ॥२४॥

वेदशास्त्रानुकूल मार्ग में वृद्ध सेवा से आप सुशिक्षित हैं तो मुझे बलपूर्वक अकर्म भूमि नागलोक में लाकर आप क्या करेंगे ॥ २४ ॥

न वक्तुमीशे गिरमुत्तरोत्तरं त्वदुक्तिधारासमशीर्षिकापदम् ।
गुरोर्निदेशो मम दुस्त्यजस्त्वयं कुतस्तमुत्सादयितुं प्रवर्तसे ॥२५॥

पवित्र जलधारा की तरह आपकी उक्ति शिरोधार्य है फिर भी इसका मैं उत्तर नहीं दे सकता। मेरे गुरु का आदेश अतिक्रमणीय है उसे छोड़ने के लिये आप मुझे क्यों बाध्य कर रही हैं॥ २५॥

यदि त्वलङ्घ्यं गुरुशासनं त्वया यतस्व भूमाववतारणे मम।
स्मृता स्मृता संनिदधामि तावदित्युदीर्य तं दिव्यनदी तिरोदधे॥२६॥

यदि तुम्हारे द्वारा गुरु की आज्ञा का उल्लंघन नहीं हो सकता तो पृथ्वी पर मेरे अवतरण का प्रयास करो। मैं भी शास्त्रानुसार आचरण करती हूँ ऐसा कहकर वह दिव्यनदी अन्तर्धान हो गयी॥ २६॥

विचिन्तयन्नभ्रनदीगिरं मुहुर्विनिःश्वसन्नायतमायतं ततः।
प्रजेश्वरः प्रस्तुतकार्यसिद्धये जगन्ति सर्वाणि जगाम चेतसा॥२७॥

तदनन्तर आकाश गङ्गा की वाणी का बार-बार चिन्तन करते हुये तथा दीर्घ श्वास लेते हुये उपस्थित कार्य की सिद्धि के लिये राजा भगीरथ मन से सभी लोकों को प्राप्त हुये॥ २७॥

मुमूर्षमाणासुरशल्कविक्रमप्रसङ्गसंभावनयापि मूर्च्छताम्।
अभून्न चित्ते नृपतेर्दिवौकसामपि प्रसज्य प्रतिषेधपात्रता। २८॥

मत्स्य कंटक के समान मरने की इच्छा रखने वाले असुरों के विक्रम प्रसङ्ग की संभावना से मूर्च्छित देवों में निषेध की भावना की तरह राजा भगीरथ की असमर्थता का आभास हुआ॥ २८॥

सुराग्रजो यद्यपि यद्यपि स्वयं जगन्ति निर्मात्यसकृद्युगात्यये।
शशाप तामेव नदी भवेति वा गिरेः सुतां यद्यपि कोपमूर्च्छितः॥२९॥

प्रलय काल में जब कि ब्रह्मा जी सभी लोकों का निर्माण करते हैं उसी समय उन्होंने अद्रितनया गङ्गा जी को शाप दे दिया कि नदी हो जाओ, क्रोध से ऐसा कहने पर वे स्वयं भी मूर्च्छित हो गये॥ २९॥

तथापि तद्दुर्विनयोपमर्दने प्रभुर्जराजर्जरितः कथं विधिः।
तया पुराभिद्रुत एव भीषितस्तुता तथासाविति हि प्रगीयते॥३०॥

फिर भी उसके दुर्विनय को नष्ट करने में समर्थ वे ब्रह्मा जी अवस्था जन्य परिस्थिति से इस समय वृद्ध हो गये और उसके आक्रमण से भयभीत होकर स्तुति गान करने लगे॥ ३०॥

सहेत किं नाम वियन्नदीं हरिः सहिष्यते किंचिदयं तु साहसी।
ससर्ज विध्यण्डपुटेऽपि यः पदं समुत्क्षिपन्नावरणोदकैर्नदीम्॥३१॥

आकाश गङ्गा को क्या विष्णु सहन कर सकेंगे ? किन्तु यह साहसी तो किसी प्रकार सहन कर ही सकता है। जिस विष्णु ने पृथ्वी पर पैर रखते हुये आवरण रूपी जल से इस नदी की रचना की थी ॥ ३१ ॥

अयं हि मग्नश्चिरमर्णवोदरे पुरा पुराणीः स्वयमाहरद्गिरः ।
अयं हि निर्मथ्य सुधाब्धिमद्रिणा पुरा सुरानप्यमृतैरतोषयत् ॥३२॥

पुराणोक्तियों को स्वयं दोहराते हुये वे राजा भगीरथ बहुत देर तक हृदय से भावविभोर हो उठे और कहने लगे पहले इन्ही विष्णु भगवान् ने समुद्र-मन्थन करके उपलब्ध अमृत से देवताओं को सन्तुष्ट किया था ॥ ३२ ॥

अमुं पुमांसं परिहृत्य कोऽपरः प्रवर्ततामर्णवशोषकर्मणि ।
अमुं विना केन पुनर्महोदधावबन्धि सेतुः शतयोजनायतः ॥३३॥

समुद्र-शोषण कर्म में अगस्त्यऋषि के अतिरिक्त कौन प्रवृत्त होकर सफल हो सकता है ? शतयोजन विस्तृत समुद्र में सेतु का निर्माण राम के अतिरिक्त कौन कर सकता है ॥ ३३ ॥

महीधरैर्मन्दरगन्धमादनत्रिकूटहेमाचलरोहणादिभिः ।
अधारि तामप्यवहद्वसुंधरामयं न किं नाम पुरा स्वदंष्ट्रया ॥३४॥

मन्दराचल, गन्धमादन, त्रिकूट, सुमेरु और रोहण पर्वतादि महीधरों के साथ वसुंधरा को भी क्या भगवान वाराह ने अपने दांतों से नहीं धारण किया अपितु धारण ही किया है। ३४ ॥

विचारयामो यदि कर्म वैष्णवं किमस्त्यसाध्यं त्रिषु विष्टपेष्वपि ।
विचारयामो यदि वापि तां नदीं भरं क विन्यस्य विशङ्कमास्महे ॥३५॥

यदि हम वैष्णव कर्म का आचरण करें तो तीन लोकों में कौन-सी वस्तु दुर्लभ हो सकती है ? यदि हम उस नदी के लिये विचार करें तो इस भार को हम कहाँ रखकर निःशङ्क रह सकते हैं ॥ ३५ ॥

इदं तु सिद्धं हिमशैलनन्दना तथाविधैवास्तु ततोऽधिकापि वा ।
उपायवेदी मधुकैटभाहितस्तथापि किं किं न स साधयिष्यति ॥३६॥

हिमाद्रिसुता सुरनदी उसी प्रकार (नाराज) अथवा उससे भी अधिक रहें, इतना तो निश्चित है उपायवेत्ता विष्णु क्या क्या नहीं सिद्ध कर सकेंगे ? ॥

न देवताभिर्न मृगैर्न मानुषैर्न वायुधैः संभवि यस्य नाशनम् ।
हिरण्यमीदृक्षमपि प्रतिघ्नतो न बुध्यते कैरपि तस्य मायिता ॥३७॥

देवता, सिंह, मनुष्य तथा आयुध से भी जिसका विनाश असंभव है ऐसे

हिरण्यकशिपु को मारनेवाले नृसिंह भगवान् की माया कौन जान सकता है ? ॥ ३७ ॥

कथं कथं धिग्धिगिदं स्मृतिं गता कथा ममेयं पुरशासनाश्रया ।
पुराणिनी नन्वयमीदृशोऽपि सन्क्षणान्नृसिंहः शरभेण पातितः ॥३८॥

मेरे नगर शासनाश्रित होने से यह कथा क्यों मेरे स्मृति पथ को प्राप्त हुई इसे बार-बार धिक्कार है। पुराणवचनानुसार यह नृसिंह (शेर) भी शरभ के द्वारा नष्ट हो सकता है। (पुराणों में अष्टपद वाले शरभ का उल्लेख मिलता है। यह शेर की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होता है किन्तु इसकी उपलब्धि नहीं होती।) ॥ ३८ ॥

निवेद्यते यद्यपि तस्य विक्रमो जलंधरान्धत्रिपुरस्मरादिभिः ।
तथापि बाणासुरसंगरे जनाः पठन्ति तस्यापि पराक्रमक्षतिम् ॥ ३९ ॥

जलंधरान्ध त्रिपुरस्मरादिकों के पराक्रम का वर्णन किया गया है; फिर भी बाणासुर-संग्राम में उसके भी पराक्रम का विनाश लोग पढ़ते हैं ॥३९॥

अतो न किंचिद्व्यवसातुमीश्महे मतिं स्वकीयां परमास्थिता वयम् ।
क कूपमण्डूकनिभा मतिर्नृणां क देवतातत्त्वविचारचातुरी ॥ ४० ॥

इसलिये हम अपनी बुद्धि के अनुसार कुछ भी करने में असमर्थ हैं। कहाँ कूपमण्डूकता के सदृश मनुष्य बुद्धि और कहाँ तात्त्विक विचारपूर्ण देवताओं की बुद्धि चतुरता ? अर्थात् दोनों में बहुत अधिक अन्तर है ॥ ४० ॥

इति क्षितीशः प्रणिधानमाश्रितः क्षणं यदा यन्न मिमील लोचने ।
तदा विधिस्तस्य दृशोः पुरो भवन्प्रभावमैशं गदितुं प्रचक्रमे ॥४१॥

इस प्रकार ध्यानावस्थित राजा भगीरथ कुछ समय तक नेत्र बन्द करके ध्यान मग्न थे। उसी समय ब्रह्मा जी उनके नेत्रों के समक्ष उपस्थित होकर इस प्रकार कहने लगे ॥ ४१ ॥

कियत्यसौ तात वियन्नदी भवेत्कियन्ति सर्वाणि जगन्ति वा पुनः ।
स्वयं यदि प्राक्तनपुण्ययोगतः स एव ते संरभते महीश्वरः ॥ ४२ ॥

कितनी आकाश गङ्गा और कितने ही विश्व का निर्माण हो जाता यदि प्राचीन पुण्य योग से स्वयं राजा के द्वारा उसका शुभारंभ हो ॥ ४२ ॥

यदंशलेशावतरस्य केलयो भवन्ति दक्षाध्वरशिक्षणादयः ।
पठन्ति तस्यैव पराक्रमक्षतिं न चेतना जातु कुतो विवेकिनः ॥४३॥

जिसके आंशिकावतरण की क्रीडायें दक्ष यज्ञ के शिक्षणादि रूप में होती है उसी के पराक्रम का विनाश भी विवेकी लोग पढ़ते हैं और विचलित नहीं होते ॥ ४३ ॥

पुरा मुकुन्दाय तथा तपस्यते पुराहितस्वप्रतिपादितं वरम् ।
न पालयेद्बाणपुरे यदि स्वयं भजेदमुं पार्थिव देवतेति कः ॥ ४४ ॥

पहले कभी जिन्होंने मुकुन्द बालकृष्ण को देखने के लिये तपस्या की, कभी अपने द्वारा प्रदत्त वरदान भी अहितकर (भस्मासुर) हुआ यदि बाणासुर की नगरी में अपनी रक्षा न करते तो उन्हें पार्थिव देवता के रूप में कौन भजता ? ॥ ४४ ॥

यदस्ति विश्वं क्रियते स्म येन तद्यतः स चाभूत्स च यत्र लीयते ।
स च स्वयं येन किलानुगृह्यते ततोऽप्यतीतं तदवैहि दैवतम् ॥४५॥

जो यह विश्व है, जिसके द्वारा इसका निर्माण हुआ है वह भी जहाँ से हुये और जहाँ वे स्वयं लीन हो जाते हैं वे स्वयं हैं या किसी के द्वारा ग्रहीत हैं इन सबसे जो परे है वही अनिर्वचनीय ब्रह्म ही ईश्वर है ॥ ४५ ॥

प्रसूति मीशानहरीन्द्रवेधसां प्रचक्षतेऽथर्वशिखागिरो यतः ।
विहाय सर्वानपि यस्य वन्द्यता विधीयतेऽथर्वशिखादिसूक्तिभिः ॥४६॥

अथर्ववेदोक्ति से शिव विष्णु इन्द्र और ब्रह्मा की जो उत्पत्ति कही गयी है उनमें सर्वाधिक वन्दनीय शिव की अथर्ववेदादि सूक्तियों से स्तुति की गयी है ॥ ४६ ॥

प्रमाणमूर्धन्यपदाभिषेचिता यतश्चतस्रः श्रुतयोऽपि जज्ञिरे ।
किमुक्तिभिः सः प्रणवोऽपि यत्पुरः प्रतीयतेऽथर्वशिरस्यनेकधा ॥४७॥

प्रमाण की पराकाष्ठा से अभिसिंचित चारों वेदों की ऋचायें जिनका यशोगान करती हैं जो अथर्ववेदोक्तियों से अनेक प्रकार के प्रतीत होते हैं । उनके समक्ष सामान्य उक्तियों का क्या वैशिष्ट्य हो सकता है ॥ ४७ ॥

प्रभुं प्रशान्तं परमेश्वरं च यं भणन्ति कैवल्यगिरः परिस्फुटम् ।
यमेव विश्वाधिक इत्यनुश्रवाः प्रचक्षते कण्ठरवेण नापरम् ॥४८॥

वेदोपनिषदादि उक्तियाँ जिन्हें स्पष्ट रूप से प्रभु, प्रशान्त (जितेन्द्रिय) और परमेश्वर से अभिहित करती हैं, वेदों के अनुसार स्वर घोष से उनको ही विश्वाधिक कहा जाता है, किसी अन्य को नहीं ॥ ४८ ॥

यदाप्तिहेतोर्यतते जगत्त्रयी यदेव चाद्यं फलराजसाधनम् ।
तयैव देव्या स्वयमात्मविद्यया यदीयमर्धं वपुषो विभूषितम् ॥४९॥

तीनों लोक जिनकी प्राप्ति के लिये प्रयास करते हैं, जो मोक्ष की उपलब्धि के प्रथम साधन हैं, जिनका अर्धशरीर आत्मविद्या की तरह देवी पार्वती से (अर्धनारीश्वर रूप में) सुशोभित है ॥ ४९ ॥

सुखावहो यः किल शंभुशंकराद्यभिख्यया यो वपुषातिनिर्मलः।
य एव सर्वज्ञ इति प्रघुष्यते विशुद्धसत्त्वात्मकतां विभावय ॥५०॥

शंभु, शंकर आदि नामों से लोगों को सुख प्रदान करने वाले और शरीर से अत्यधिक निर्मल (नर्मदेश्वर) हैं, विशुद्ध सत्त्व शक्तियों में उन्हें सर्वज्ञ कहा जाता है ऐसे शिवजी को प्रसन्न करो ॥ ५० ॥

तपोभिरल्पैर्दयते च देहिनां स देवदेवः शशिखण्डमण्डनः।
दयापि सा देयमदेयमित्यमुं विभागमेव प्रथमं न बुध्यते ॥ ५१ ॥

वे देवाधिदेव चन्द्रशेखर थोड़ी ही तपस्या से लोगों पर दयालु हो जाते हैं। वह दयालुता भी ऐसी होती, जिसमें दान की पात्रता का कोई प्रश्न ही नहीं है ॥ ५१ ॥

इति क्षितीशं प्रतिबोधयन्नसावदीक्षयच्छाम्भवदीक्षया पुनः
ददौ च तस्मै विनताय तत्परं परिष्कृतं पञ्चभिरक्षरैर्मधुम् ॥५२॥

इस प्रकार राजा भगीरथ को प्रतिबुद्ध करते हुये ब्रह्माजी पुनः शंभु की दीक्षा से दीक्षित किया और उन्हें पञ्चाक्षर परिमार्जित मंत्र मधु प्रदान दिया ॥

प्रविष्टमात्रश्रुतिसम्पुटोदरः समन्त्रराजः शशिखण्डपाण्डरः।
तमांसि तस्य प्रबिभेद तत्क्षणं मनांसि यूनामिव मान्मथः शरः ॥५३॥

चन्द्रखण्ड की तरह प्रकाशमान वह मन्त्रराज जैसे ही भगीरथ के कान में प्रवेश किया वैसे ही उनके हृदय में व्याप्त वह अज्ञान रूपी अन्धकार उसी प्रकार नष्ट हो गया जैसे कामव्यथित मनवाले व्यक्ति का विवेक नष्ट हो जाता है ॥ ५३ ॥

प्रतिप्रयाते जगतां पितामहे भगीरथः पूर्णमनोरथस्ततः।
तपश्चरिष्यन्नतिदारुणं पुनर्गिरिं जगाम श्वशुरं पिनाकिनः ॥ ५४ ॥

तदन्तर पितामह ब्रह्माजी के चले जाने पर सफल मनोरथ से युक्त भगीरथ अत्यधिक दारुण तपस्या करते हुये हिमालय चले गये ॥ ५४ ॥

मरुद्भिरेकान्ततुषारवर्षिभिर्मनोहरन्तीषु यदीयभूमिषु।
नवाभिसारेऽप्यधरं मृगीदृशां विमुक्तशङ्कं व्रणयन्ति कामिनः ॥५५॥

मात्र तुषार (हिमकण) वृष्टि करने वाले बर्फीले वायु से जिस हिमालय के समीपवर्ती भूमिस्थान में शङ्का रहित होकर कामी लोग मृगनेत्रियों के अधर का रसास्वादन करते हैं ॥ ५५ ॥

कठोरसौरातपतापविद्रवत्तुषारवापीसलिलैकजन्मनाम् ।
सरोरुहाणां किमिवोपहन्यते हिमेषु वा यत्र हिमात्ययेषु वा ॥५६॥

तीव्रघर्म सन्ताप से द्रवीभूत हिमकणों के एकत्रित जल से उत्पन्न होने वाले कमलों का बर्फीले मौसम या ग्रीष्मकाल में कोई नुकसान नहीं होता ॥ ५६ ॥

हिमस्पृशां यन्मरुतां प्रसादतो विलासिनां मुग्धवधूरतेष्वपि ।
न शिक्षणीयाजनि जातु सीत्कृतिर्न चार्थनीया परिरम्भसान्द्रता ॥५७॥

बर्फीले वायु की कृपा से मुग्धवधुओं के साथ विलासियों के रति काल में सीत्कार की शिक्षा और गाढालिङ्गन की याचना नहीं करना चाहिये ॥ ५७ ॥

पुराण वेणुव्यतिषङ्गसंभवं दवं यदीयाः शमयन्ति तत्क्षणम् ।
तदर्चिरुष्मग्लपितद्रवीभवत्तुषारसङ्घातमहाम्बुवृष्टयः ॥ ५८ ॥

हिमालस्थ सूर्य की किरणों से द्रवीभूत हिमकणों की महावृष्टियाँ प्राचीन बाँसों के संघर्षण से उत्पन्न दावाग्नि को तत्क्षण ही शान्त कर देती हैं ॥ ५८ ॥

द्रवीभवद्भिः क्वचिदातपोष्मणां क्वचिच्च विद्याधरगानविद्यया ।
हिमस्वरूपैरितरैश्च यत्तटैः स्वयं भवेद्देव न पञ्चषैर्दिनैः ॥ ५९ ॥

कहीं पर घर्म से द्रवीभूत होते हुये तथा कहीं पर विद्याधरों की गान-विद्या (संगीत) से हिम स्वरूपी तट द्रवीभूत हो रहे थे अन्य जहाँ पर सूर्य का सन्ताप और गानविद्या का प्रभाव था वहाँ भी कुछ ही दिनों में द्रवीभूत होने की संभावना थी ॥ ५९ ॥

तपोविशुद्धे हृदये तपस्विनामपि क्षणादूर्ध्वमवस्थितो न यः ।
स एव यत्सानुविहारकौतुकी सदा महेशो यदि किं ततोऽधिकम् ॥६०॥

तपस्वियों के तपःपूत हृदय में भी जो महेश क्षण भर से अधिक नहीं स्थिर रह सकते यदि वे पर्वत विहार के कुतूहल से यहाँ निरन्तर रहते हों तो हिमालय क्या उनके हृदय से अधिक पवित्र नहीं है ? ॥ ६० ॥

स्वतंत्रखेलद्गिरिकन्यकाकरस्वयं ग्रहावर्जितमुग्धपल्लवाः ।
मुनीन्द्रवृन्द्राद्दतमूलपांसवो जयन्ति धन्याः किल यत्र वीरुधः ॥६१॥

स्वेच्छया क्रीड़ारत हिमसुता के हाथों से स्वयं गृहीत कोमल पत्तों वाले वृक्ष धन्य हैं, निश्चित रूप से समाहृत मूलस्थ धूलियाँ सर्वोत्कृष्ट हैं ॥ ६१ ॥

परिभ्रमद्गन्धमृगाधिवासितं प्रकीर्णकल्पद्रुमपुष्पमप्यधः ।
शिलातलं स्निग्धविशालशीतलं सुखेन यत्राधिवसन्ति किंनराः ॥६२॥

इस नीचे तट पर भ्रमण करने वाले कस्तूरी मृगों से सुगन्धित और कल्पद्रुमों के पुष्पों से आच्छादित शिलातल जो अत्यधिक स्निग्धता के कारण सुशीतल है उस पर किन्नर लोग निवास करते हैं ॥ ६२ ॥

यदीयनीहारकणानितस्ततः किरन्मृगाङ्कः प्रथते सुधाकरः ।
यदीयगण्डोपल एव कश्चन प्रयाति कैलास इति स्थिरं यशः ॥६३॥

जिस हिमालय के बर्फ कणों को और भी बिखेरता हुआ चन्द्रमा सुशोभित होता है उसकी चाँदनी में ऐसा प्रतीत होता है मानों स्थिर कीर्तिशाली कैलास इसके समीप आ रहा है ॥ ६३ ॥

स यक्षविद्याधरकिंनराप्सरः फणीन्द्रगन्धर्वनिरन्तरे पथि ।
व्रजन्नतिक्रम्य तुषारभूधरं जगाम कैलासगिरिं जनेश्वरः ॥६४॥

वे राजा भगीरथ यक्ष विद्याधर अप्सरा फणीन्द्र गन्धर्वादिकों से व्याप्त मार्ग में जाते हुये हिमालय को अतिक्रमित कर कैलास पर्वत पर गये ॥६४॥

महेशभूषाहिकुलानि कन्दरे चिरोपरोधात्क्षुधितानि रक्षितुम् ।
समीरणं सेवितुमागतं बलान्नयन्ति यत्र प्रमथाः कृपालवः ॥ ६५ ॥

गुफा में बहुत समय तक वायु न मिलने पर भूखे शिव के आभूषण स्वरूप सर्पों की रक्षा करने के लिये कृपालु शिव के प्रमथ गण जहाँ वायु सेवन के लिये बलपूर्वक ले जाते हैं ॥ ६५ ॥

विशङ्कलङ्केशभुजोपकम्पितायतो विकीर्णा रजतोपला इव ।
गणा जयन्ति प्रलयान्तपावकज्वलत्त्रिलोकीभसितावगुण्ठताः ॥६६॥

निर्भीक रावण के बाहु प्रकम्पन से चाँदी के टुकड़े की तरह फैले हुये प्रलय कालिक धूनी रमाये भस्माच्छादित शिवगण सर्वोत्कृष्ट हैं ॥ ६६ ॥

तटेषु तत्तज्जगदण्डमण्डलीसमाहृतब्रह्मकरोटिकोटिषु ।
चरन्विधिर्यत्र न जातु शोचति स्मरन्नपि स्वं किल पञ्चमं शिरः ॥६७॥

कैलास पर्वत के तटप्रान्त भाग में संसार के अनेक स्थानों से आकर ब्राह्मणों द्वारा बनाई गयीं झोपड़ियों में विचरण करते हुये ब्रह्माजी निश्चित रूप से पञ्चम शिर का स्मरण करते हुए भी कभी चिन्ता नहीं करते। (किसी समय शिव ने ब्रह्मा का एक शिर काट लिया था) ॥ ६७ ॥

प्रवेशिताः स्फाटिककन्दरोदरं नवाङ्गना यत्कटकेषु किंनरैः ।
अपत्रपन्ते बहिरासिताः सखेरवेक्ष्य नैर्मल्यवशादतिस्फुटम् ॥ ६८ ॥

जिस पर्वत की गुफाओं में किंनरों के साथ प्रविष्ट नवाङ्गनायें निर्मलता से

अत्यधिक स्पष्ट रूप में बाहर स्थित सखियों को देखकर लज्जित नहीं होती। (अर्थात् इन्हें यह जानकारी रहती है कि गुफा के अन्दर रहने के कारण सखियाँ उन्हें नहीं देख सकतीं) ॥ ६८ ॥

बिभर्ति यः स्फाटिकराजतीस्तटीः कुटुम्बिनो यत्र धनेश्वरादयः।
समः समृद्ध्या क इवास्य वर्तते प्रभुर्न भिक्षामटति स्वयं यदि ॥६९॥

जो पर्वत चाँदी की तरह स्फटिक तटप्रान्तभागों को धारण करता है कुबेरादि जिसके पारिवारिक सदस्य हैं ऐसी स्थिति में इसके समक्ष कौन हो सकता है यदि स्वयं भगवान् शंकर भिक्षा के लिये भ्रमण न करते ॥६९॥

शरार्कधुर्धूरणतीषु यत्तटे महेशपुष्पोपवनीषु रक्षिणः।
स्वतः प्ररूढामपि जातु केतकीं न हि क्षमन्ते विषवल्लरीमिव ॥ ७० ॥

जिस कैलास पर्वत के तटप्रान्तभाग में ऊँची नीची चोटियों पर सरपत, मन्दारादि वृक्ष एवं शिव जी के प्रिय पुष्पों की वाटिकाओं के संरक्षक स्वतः उत्पन्न केतकी की लता को भी विषलता समझकर दूर रहते हैं ॥ ७७ ॥

सुरसिद्धतापसगतागतोचितां परिहृत्य तत्र पदवीं भगीरथः।
अधितिष्ठति स्म तटमस्य पावनं हृदयं च तस्य पुनरिन्दुशेखरः ॥७१॥

देवता और सिद्ध तपस्वियों के आने जाने योग्य स्थान को प्राप्त करके तथा पर्वतस्थ तटप्रान्त भाग में भगीरथ भगवान चन्द्रशेखर को हृदय में धारण करके पुनः साधना करने लगे ॥ ७१ ॥

इति श्रीनीलकण्ठदीक्षितप्रणीते गङ्गावतरणे गङ्गाहंकारो नाम तृतीयः सर्गः ॥३॥

चतुर्थः सर्गः

स बाह्यकरणग्रामसंविधानानुरोधिनीम् ।
आकृष्य मानसीं वृत्तिमाधत्त मदनान्तके ॥ १ ॥

राजा भगीरथ ने बाह्येन्द्रियों को असंयमित करने वाली अपनी मनोवृत्ति को वशीभूत करके उसे मदनान्तक शिव में लगाया ॥ १ ॥

इयता क्रमितुं शक्या मयेयमिति दर्शयन् ।
स तस्थौ भुवमाक्रम्य चरणाङ्गुष्ठरेखया ॥ २ ॥

मेरे द्वारा इसका अतिक्रमण नहीं हो सकता इस प्रकार दिखाते हुये वे राजा भगीरथ पादाङ्गुष्ठ रेखा से पृथ्वी की परिक्रमा करके बैठ गये ॥ २ ॥

बभौ तेन समुत्क्षिप्तो बाहुर्ज्याघातलाञ्छितः ।
जित्वा तपोभिर्ब्रह्मर्षीञ्जैत्रस्तम्भ इवोच्छ्रितः ॥ ३ ॥

धनुष की प्रत्यञ्चा से चिह्नित उनका ऊर्ध्वस्थ बाहु ऐसा सुशोभित हुआ मानों तपस्या से ब्रह्मर्षियों पर विजय पाने वाले जैत्रस्तम्भ है ॥ ३ ॥

स्वात्मानन्दसुधास्वादसुखितो वसुधेश्वरः ।
न फलेषु न मूलेषु नाप्सु च प्रीतिमानभूत् ॥ ४ ॥

राजा भगीरथ आत्मानन्द रूपी अमृत रसास्वादन के सुख का अनुभव करने लगे फलतः कन्द मूल फल और जल में भी उनकी रुचि का अभाव हो गया ॥ ४ ॥

सस्नौ जजाप दध्यौ च स संध्यास्वखिलास्वपि ।
कथाभिः कालकालस्य जजागर च शर्वरीः ॥ ५ ॥

वे राजा भगीरथ नित्य-प्रति स्नान, जप और ध्यान से संध्या करने लगे तथा रात्रि में महाकालशिव की कथा श्रवण जागरण करने लगे ॥ ५ ॥

तप्यमाने तथा तस्मिंस्तत्यजुः क्रमशो भयम् ।
क्षुद्रस्वस्वपदस्वामिदुर्विदग्धा दिवौकसः ॥ ६ ॥

इस प्रकार राजा भगीरथ के तप करने पर निम्नवर्गीय पटुता रहित देव गण धीरे धीरे निर्भीक होने लगे ॥ ६ ॥

षडङ्गमातृकामूर्तिषडध्वादिविभेदिना ।
न्यासजालेन नृपतिरङ्गमङ्गमशोधयत् ॥ ७ ॥

छः अङ्गों से देवमातृका बनाकर षट्विधि से न्यास के द्वारा राजा भगीरथ ने अपने अङ्ग-प्रत्यङ्गों का पवित्रीकरण किया ॥ ७ ॥

अनुसंधाय चण्डीशमन्तश्चण्डांशुमण्डले ।
पार्थिवः पञ्चषान्मासानुपासामास वासरे ॥ ८ ॥

राजा भगीरथ ने चण्डीपति शिव जी को हृदय में धारण करके तीव्रघर्म दिवसों में पाँच माह पर्यन्त शिव की पूजा की ॥ ८ ॥

अप्राकृतपरंज्योतिरभेद्ध्यानशालिनः ।
तस्य दृष्टिपथे स्थातुं तत्रास महसां निधिः ॥ ९ ॥

निरन्तर ध्यानावथित राजा भगीरथ के असाधारण तेजस्वी होने से उनके सामने उपस्थित होने में इन्द्र भी डरने लगा ॥ ९ ॥

अगृहीतोत्तरासङ्गमासीनं च तमन्तरे ।
परीक्षितुमिवाजग्मुर्दिवसा हिमसान्द्रिता ॥ १० ॥

वहाँ पर दुपट्टा आदि वस्त्र रहित होकर बैठे हुये राजा भगीरथ की मानों परीक्षा लेने के लिये बर्फीले दिन उनके समक्ष उपस्थित हो गये ॥ १० ॥

विना सशपथैः सान्त्वैर्विना व्याजैश्च कामिनाम् ।
अपि सान्द्रं परिष्वङ्गमन्वजानन्नवाङ्गनाः ॥ ११ ॥

नवाङ्गनायें शपथ, आश्वासन और बिना किसी व्याज के (शीत के कारण) कामियों के प्रगाढ आलिङ्गन से परिचित हो गयीं ॥ ११ ॥

गर्भेष्वाप्रपदीनानामगुण्ठनवाससाम् ।
अशेत द्वन्द्वमस्पन्दमासक्तोरुभुजं मिथः ॥ १२ ॥

गृहों में पैर तक फैले वस्त्रावरण से आच्छादित स्त्रीपुरुष परस्पर चिपके हुये निष्पन्द शयन करने लगे ॥ १२ ॥

कञ्चुकाहरणातङ्कातराणां मृगीदृशाम् ।
दयालुर्हैमनो वायुर्ददौ रोमाञ्चकञ्चुकम् ॥ १३ ॥

रतिकाल के समय वस्त्र रहित होने से लजीली मृगनेत्रियों को दयालु बर्फीले वायु ने रोमाञ्च रूपी कञ्चुक (वस्त्र) प्रदान किया ॥ १३ ॥

किं त्यक्तं युवभिर्घर्मे किं लब्धं चाधिकं हिमे ।
आनुकूल्याद्यशो लेभे चतुरस्तु हिमागमः ॥ १४ ॥

ग्रीष्म समय में युवकों ने किसे नहीं छोड़ा और शीत काल में क्या नहीं

प्राप्त किया। तथापि चतुर हिमागम (शीतकाल) ने अधिक अनुकूलता के कारण यश को प्राप्त किया ॥ १४ ॥

प्रकृत्या कुटिलो मारः पवनस्तुहिनाकरः।
दीर्घाश्च रात्रयो हन्त जीवन्तु पथिकाः कथम् ॥ १५ ॥

स्वभाव से कुटिल कामदेव और बर्फीली हवा तथा बड़ी-बड़ी रात्रियाँ। दुःख है बेचारे बटोही कैसे जीवित रहें ॥ १५ ॥

संभ्रान्तो हिमवर्षेण शङ्के मकरकेतनः।
उपारुरोह नारीणामूष्मलं कूचमण्डलम् ॥ १६ ॥

हिमवृष्टि जन्य शीत से प्रकम्पित कामदेव निश्चय ही नारियों के स्तनों पर आरुढ़ हो गया मेरी ऐसी आशङ्का है ॥ १६ ॥

फालानलशिखोत्तप्तपाणिपद्मा कपर्दिनः।
कथमप्यतिचक्राम हिमं हैमवती तदा ॥ १७ ॥

उस शीतकाल में शिवजी की अग्निशिखा से गर्म हाथोंवाली हिमसुता-पार्वती बड़ी कठिनाई से हिमालय पर चढ़ सकी ॥ १७ ॥

ध्वंस्यमानेषु बाणेषु भज्यमाने च कार्मुके।
भुवनान्यजयत्त्रीणि भ्रूक्षेपादेव मन्मथः ॥ १८ ॥

धनुष के टूटने और बाण के नष्ट होने पर भी मानों कामदेव ने उस समय भौंहों को चलाकर ही तीन लोकों को जीत लिया था ॥ १८ ॥

वसन्त इव हेमन्तो वशीचक्रे जमत्त्रयम्।
न वसन्तः स्वतः किन्तु यः स्मरेण कटाक्षितः ॥ १९ ॥

हेमन्त की तरह वसन्त ने तीन लोकों को वश में कर लिया ऐसा उसने अपनी इच्छाशक्ति से नहीं अपितु इसमें कामदेव की प्रेरणा थी ॥ १९ ॥

मम्रुः कुन्देषु ते भृङ्गाः यैर्व्याप्तमखिलं वनम्।
कस्य किं वा न पर्याप्तं कालो यद्युपतिष्ठते ॥ २० ॥

सम्पूर्ण वन को व्याप्त करने वाले भ्रमर कुन्द पुष्पों पर मंडराने लगे। सामयिक वस्तु किसके लिये सुखद और पर्याप्त नहीं होगी ? ॥ २० ॥

द्वौ हि तेजस्विनौ लोके सविता स च पार्थिवः।
तस्थतुस्तौ विभज्येव दक्षिणोत्तरयोर्दिशोः ॥ २१ ॥

दक्षिण और उत्तर दिशा को विभाजित करके स्थिर रहने वाले तेजस्वी सूर्य और राजा भगीरथ दो ही लोक में प्रसिद्ध हैं ॥ २१ ॥

स्वस्तिकस्थगितोरोजाः सीत्कारतरलाधराः ।
स्नानान्तेषु स्त्रियो मुग्धा यूनामाचकृषुर्मनः ॥ २२ ॥

स्तनों को पतले वस्त्र से आच्छादित करने वाली तया सीत्कार करने में चञ्चल अधरों वाली मुग्धा स्त्रियों ने स्नानान्त में युवकों का मन आकृष्ट कर लिया ॥ २२ ॥

पतितव्यं हिमैर्नाम स्नातव्यं नाम च द्विजैः ।
किं कुर्मः कृतवानेवं स विधिर्नोपलभ्यते ॥ २३ ॥

हिमखण्डों का स्खलित होना निश्चित है और ब्राह्मण के लिये स्नान करना विशेष महत्त्वपूर्ण है ऐसी स्थिति में विचार करते हुये राजा भगीरथ ने जिस विधि से कार्य किया वह विधि कहीं उपलब्ध नहीं है ॥ २३ ॥

धूलिधूसरितादर्शदुर्दर्शं रविमण्डलम् ।
प्रत्येतुमक्षमाश्चक्रा न मिथः समगंसत ॥ २४ ॥

धूलि धूसरित दर्पण की तरह सूर्य मण्डल प्रयत्न प्रेक्षरीय हो जाने पर लौटने में असमर्थ चक्रवाक परस्पर नहीं मिल पा रहे हैं ॥ २४ ॥

निष्प्रभो यद्रविर्जज्ञे यच्च धूसरिता दिशः ।
उत्पातेनेव तेनासीत्प्रलयः पान्थयोषिताम् ॥ २५ ॥

प्रकाश रहित सूर्य और धूसरित दिशाओं के उत्पात से ही पथिकों की स्त्रियों को प्रलय का अनुभव होने लगा ॥ २५ ॥

निदाघ एव यत्रत्यः परत्र शिशिरायते ।
तत्रेव यदि हेमन्तः स कथं नास्तु पर्वतः ॥ २६ ॥

अन्यत्र का तीव्र घर्म सन्ताप यहाँ शीतल होरहा है। उसी प्रकार यह पर्वत हेमन्त क्यों न हो। अत हेमन्त ऋतु से प्रभावित होने पर इसे हेमन्त भी कहा जा सकता है। हेमन्त में स्वाभाविक शीतलता होती है ॥ २६ ॥

प्राक्तनेषु तुषारेषु प्रत्यग्रं पतितं हिमम् ।
निश्चीयते स्म मृदुता दृश्यै विद्याधरीपदैः ॥ २७ ॥

प्राचीन (जमे हुये) तुषार कणों में नये हिम कणों के गिरने से विद्याधर वनिता के चरणों की कोमलता प्रतीत होती है ॥ २७ ॥

प्रथमा भसितारब्धसर्वाङ्गीणावगुण्ठनाः ।
पाणिस्थं देवदेवस्य पर्युपासत पावकम् ॥ २८ ॥

भस्म विभूषिताङ्गी आद्याशक्ति महादेव शंकर जी के हस्त स्थित अग्नि की उपासना कर रही थी ॥ २८ ॥

अमुक्ताहेमनेपथ्यभङ्गरागं च कौङ्कमम् ।
किंचित्तत्रान्वमन्यन्त कुबेरान्तःपुरस्त्रियः ॥ २९ ॥

वहाँ रहने वाली कुबेर की अन्तःपुरस्थ स्त्रियाँ स्वर्णाभूषण अङ्गराग और कुङ्कुम को कुछ उपेक्षित होने का अनुभव करती थीं ॥ २९ ॥

आकृष्टयोः कुमाराभ्यामैभवैयाघ्रचर्मणोः ।
संभ्रान्ता पतिमावव्रे सव्यानाग्रेण पार्वती ॥ ३० ॥

दोनों कुमारों (स्कन्द-गणेश) के द्वारा लाये हुये हस्ति व्याघ्र चर्म को संभ्रान्ता पार्वती ने विस्तार के साथ पति (शिव) से कहा ॥ ३० ॥

अवमुच्य वतंसेन्दुमवरोप्याहिभूषणम् ।
उद्घाट्य चाक्षि तार्तीयमीशेनापि स्थितं तदा ॥ ३१ ॥

चन्द्राभूषण को छोड़कर तथा सर्पाभूषण को उतारकर और तीसरा नेत्र खोलकर उस समय शिवजी भी देखते ही रह गये ॥ ३१ ॥

नृपतिस्त्रिजगद्दाहनिदानेन तपोऽग्निना ।
हेमन्तं हिमवन्तं वा नाचिन्तयत चेतसा ॥ ३२ ॥

तीन लोकों को भस्म करने वाली तपस्या की अग्नि से राजा भगीरथ ने मन में हेमन्त और हिमालय का कोई चिन्तन नहीं किया ॥ ३२ ॥

त्रिदशास्तच्छिरोरन्ध्रतपोग्निज्वालतापिताः ।
सस्मरुश्चाक्षुषं ज्योतिः संवर्तेषु कपर्दिनः ॥ ३३ ॥

राजा भगीरथ के प्रदीप्त मुखमण्डल की तपोग्नि से सन्तप्त देवताओं ने उस समय शिव के प्रलयकालिक नेत्रज्योति का स्मरण किया ॥ ३३ ॥

परिपाकोन्मुखे तस्य प्रायस्तपसि दारुणे ।
प्रसन्नानि निमित्तानि प्रादुरासन्पदे पदे ॥ ३४ ॥

निरन्तर तपस्या करने से तेजस्वी और परिपक्क भगीरथ के मुख में धीरे-धीरे प्रसन्नता के लक्षण दिखाई देने लगे ॥ ३४ ॥

विकचाम्भोरुहां वापीं विमलं चेन्दुमण्डलम् ।
स्वप्नेषु पश्यन् राजर्षिः सिद्धं मन्त्रममन्यत ॥ ३५ ॥

विकसित कमलों वाले सरोवर और स्वच्छ चन्द्रमण्डल को स्वप्न में देखते हुये भगीरथ ने अपनी सफलता का अनुभव किया ॥ ३५ ॥

कल्पान्तोद्भ्रान्तजीमूतगर्जितस्निग्धमांसलः ।
संध्यासु शुश्रुवे तेन शंभोर्डमरुकध्वनिः ॥ ३६ ॥

संध्या समय में राजा भगीरथ ने प्रलयकालिक विशाल मेघगर्जन की तरह शिव की डमरु ध्वनि को सुना ॥ ३६ ॥

चण्डीशताण्डवालोकसंभ्रान्तानमृतान्धसः ।
ददर्श दिवि संध्यासु क्षणत्विष इव क्षणम् ॥ ३७ ॥

चण्डीपति शिव के ताण्डव नृत्य से चकित देवताओं ने आकाश में सायंकाल बिजली की तरह प्रकाशित होने वाले तेजपुञ्ज को देखा ॥ ३७ ॥

प्रत्यहं प्रमथास्तत्र पश्यन्तस्तं तिरोहिताः ।
जातु विज्ञापयामासुश्चरितं तस्य शूलिनः ॥ ३८ ॥

प्रमथगण वहाँ पर शिव को देखते हुये अदृश्य हो गये । संभव है त्रिशूलधारी शिव के चरित को विज्ञापित करने के लिये ही वे वहाँ से चले गये ॥

तावतस्तपसो दातुमपश्यन्नुचितं फलम् ।
हरः प्रतस्थे तं द्रष्टुमधमर्ण इव ह्रिया ॥ ३९ ॥

राजा भगीरथ की तपस्या के अनुरूप उचित फल प्रदान करने के लिये शिव ने उन्हें देखा और लज्जावनत की तरह दर्शनार्थ प्रस्थान किया ॥ ३९ ॥

उपरि न्यस्य संव्यानमुत्सार्य वलयान्पुरः ।
आन्तःपुरगृहद्वारमम्बिकैव करं ददौ ॥ ४० ॥

शिव जी ने कराग्र वलय को उतार कर उत्तरीय को धारण किया और हिमालयस्थ गुफा द्वार तक आने पर पार्वती ने उन्हें हाथ दिया ॥ ४० ॥

अचिन्तितोऽपनिष्क्रान्तमालक्ष्य मदनान्तकम् ।
किमेतदिति संभ्रान्ताः परिवव्रुस्ततो गणाः ॥ ४१ ॥

विना किसी चिन्तन के अप्रत्याशित रूप से मदनान्तक शिव को निकलते हुये देखकर आश्चर्य से 'यह क्या' इस प्रकार प्रमथगणों ने कहा ॥ ४१ ॥

विनयानम्रजम्भारिविशोधितपुरं पुरः ।
अतिक्रम्यालयद्वारमारुरोह वृषं हरः ॥ ४२ ॥

विनयावनत अग्नि से पवित्रित गृह द्वार को अतिक्रमित कर शिव जी नन्दी वृष पर आरुढ़ हो गये ॥ ४२ ॥

अम्बापि सम्भ्रमासन्नसखीदत्तकरा शनैः ।
पादारविन्दविन्यासैः पावयामास मेदिनीम् ॥ ४३ ॥

अम्बा पार्वती भी संभ्रान्त सखियों का हाथ पकड़कर धीरे-धीरे चरणकमलों के विन्यास से पृथ्वी को पवित्र करने लगी ॥ ४३ ॥

कामं शिक्षितसंचारा कठोरे हृदि मे यतः ।
अतः कथंचिदाक्रामदङ्घ्रिभ्यामेव सा भुवम् ॥ ४४ ॥

क्यों कि मेरे कठोर हृदय में जगदम्बा पार्वती को पर्याप्त परिज्ञान था इस लिये किसी तरह पैरों से ही उन्होंने पृथ्वी की यात्रा की ॥ ४४ ॥

चन्द्रचूडकरालम्बसंभृतारुण्यसंपदम् ।
अम्बिकाया करं मन्दमाममर्श सखीजनः ॥ ४५ ॥

चन्द्रशेखर भगवान शिव द्वारा हस्त ग्रहण जन्य रक्तिमा परिपूर्ण अम्बिका के हाथ को सखियों ने धीरे से स्पर्श किया ॥ ४५ ॥

देवोऽपि स्वयमारुह्य वृषभं वृषभध्वजः ।
देव्या विलम्बमानाया दृष्टिमध्वनि संदधे ॥ ४६ ॥

वृषभध्वज शिव भी स्वयं नन्दी पर आरूढ़ होकर विलम्ब से आने वाली पार्वती की प्रतीक्षा करने लगे ॥ ४६ ॥

क्रुध्यन्नन्दिकरोद्धूतवेत्रपातपलायिताः ।
विजहुः सरणिं गौर्या विनीतास्तत्र देवताः ॥ ४७ ॥

क्रोध करते हुये नन्दी से प्रकम्पित वेत्र पतन से भागे हुये विनीत देवताओं ने पार्वती के मार्ग को छोड़ दिया ॥ ४७ ॥

पद्भ्यामेवोपसर्पन्त्याः पार्वत्याः पथि शंकरः ।
कटाक्षै र्विचकारेव कह्लारेन्दीवरास्तरम् ॥ ४८ ॥

पदयात्रा करने वाली पार्वती के मार्ग में शंकर जी ने कटाक्षों से लगातार ऐसा देखा मानों कल्हार पुष्प कमलों से ढक गये हों ॥ ४८ ॥

व्यजनैः प्रान्तविन्यस्तकस्तूरीचन्द्रगन्धिभिः ।
मातरं तामसेवन्त कौबेरान्तःपुरस्त्रियः ॥ ४९ ॥

कुबेर के अन्तःपुर की नारियों ने समीपस्थ कस्तूरी कर्पूरादि गन्ध द्रव्यों के साथ चँवर डुलाती हुई अम्बा पार्वती की सेवा करने लगी ॥ ४९ ॥

सान्द्रस्तनपरीणाहसंभुग्नाय पदे पदे ।
भद्राण्याशास्त मध्याय पार्वत्याः प्रणयी तदा ॥ ५० ॥

तदन्तर शिव ने उस समय पार्वती के घनीभूत विशाल स्तनों को धारण करने से वक्र मध्यभाग में यत्र-तत्र भद्रपत्रावली निर्मित किया ॥ ५० ॥

आयतोद्ग्रीविकाखिन्नानमरान्वेत्रदूरितान् ।
कटाक्षैः सानुजग्राह करुणासारसान्द्रितैः ॥ ५१ ॥

नन्दी के नेत्र से दूर किये गये ग्रीवा उठाये खिन्न देवताओं का पार्वती ने कारुणिक कटाक्ष से अनुग्रहीत किया ॥ ५१ ॥

अनालम्ब्य सखीहस्तमनाक्रम्य च पादुकाम् ।
संनिकर्षं महेशस्य सा जगाम शनैः शनैः ॥ ५२ ॥

सखियों के हस्त सहयोग के विना ही एवं पादुका पर आरूढ़ न होकर पार्वती धीरे धीरे शंभु के पास आ गयी ॥ ५२ ॥

कृत्वा सव्यपदं लक्ष्म्याः कुञ्चिते जानुमण्डले ।
आरुरोह वृषं शंभो र्हस्तमालम्ब्य सा ततः ॥ ५३ ॥

नान्दी के अपने घुटनों को संकुचित कर बैठ जाने पर लक्ष्मी के लिये उपयुक्त वाम भाग में उस समय पार्वती ने शंभु के हाथ को पकड़कर वृषारोहण किया ॥ ५३ ॥

आरोपयन्निव स्वैरमालिलिङ्ग शिवः शिवाम् ।
इति सं कथयन्तीषु सखीष्वैक्षिष्ट सान्यतः ॥ ५४ ॥

शिवा पार्वती को वृष पर चढ़ाते हुये शिव ने उनका यथेष्ट आलिङ्गन किया सखियों द्वारा आपस में इस प्रकार कहने पर पार्वती दूसरी ओर देखने लगीं ॥ ५४ ॥

पाणिभ्रमितशूलाग्रपर्यस्तजलदाः शिवम् ।
शतमन्वगमन्नुद्राः शतरुद्रीयसंस्कृताः ॥ ५५ ॥

हाथ से परिभ्रमित त्रिशूल के अग्रभाग पर्यन्त फैले हुये मेघों की तरह शतरुद्री से परिमार्जिष सैकड़ों रुद्रों ने शिव का अनुगमन किया ॥ ५५ ॥

कुतः प्रतिष्ठते देवः कुत्र चेति गणास्तदा ।
पाणिभिर्नयनान्तैश्च पप्रच्छुरितरेतरम् ॥ ५६ ॥

उस समय गणदेवता हाथ और नेत्र के इशारे से परस्पर पूछ रहे थे, 'ये देवाधिदेव कहाँ से आ रहे हैं और इस समय कहाँ जायेंगे' ॥ ५६ ॥

भुग्नभारेण भक्त्या च पुण्ये शिरसि नन्दिनः ।
वाममास्थापयद्वाहुं वाहनस्थो महेश्वरः ॥ ५७ ॥

वृषारूढ महेश्वर शिव के भार और भक्ति से झुके हुये नन्दी के पवित्र शिर पर बायें हाथ को रखा ॥ ५७ ॥

वाहनारोहविस्रस्तकपर्दान्तविलम्बितम् ।
चन्द्रं गृहीतुमुद्बाहुः स्कन्दो व्यचरदन्तिके ॥ ५८ ॥

वाहन से उतरते समय फिसलकर नीचे लटकते शिवशिरस्थ चन्द्रमा को पकड़ने के लिये हाथ उठाये स्कन्द (कार्तिकेय) समीप में घूमने लगा ॥ ५८ ॥

प्रागलब्धं विचित्यापि पादं मौलिं च शूलिनः ।
पश्यन्तौ जग्मतुः पार्श्वे चक्रायुधचतुर्मुखौ ॥ ५९ ॥

ब्रह्मा और विष्णु पहले अनुपलब्ध शिव के चरण और मस्तक को देखते हुये उनके समीप गये ॥ ५९ ॥

अन्तकान्धककन्दर्पकालकूटादिनिग्रहम् ।
गायन्तो मधुरं तस्य गन्धर्वा ययुरग्रतः ॥ ६० ॥

शिवाजी के द्वारा किये गये कामदेव का अन्त एवं विष भक्षण का मधुर गान करते हुये उनके आगे आगे गन्धर्व चले ॥ ६० ॥

प्रशान्तं पावनं तत्र प्राप्य राज्ञस्तपोवनम् ।
तस्थौ तपस्यतस्तस्य पुरतः पुरशासनः ॥ ६१ ॥

प्रशान्त और पवित्र भगीरथ के तपोवन को प्राप्त करके तपस्यारत राजा के समक्ष शिवजी उपस्थित हुये ॥ ६१ ॥

स च तत्रान्तरे प्रातः स्नातो मन्दाकिनीजले ।
दध्यौ चिरमुमाकान्तं दहराकाशमण्डले ॥ ६२ ॥

उस समय राजा भगीरथ ने मन्दाकिनी के जल में प्रातःस्नान करके चिरकाल तक उमापति शिव का ध्यान किया ॥ ६२ ॥

उन्मीलयन्दृशौ किंचित्तेन कोलाहलेन सः ।
अप्राकृतं महः किंचिदद्राक्षीदग्रतो दृशोः ॥ ६३ ॥

राजा भगीरथ ने उस कोलाहल से जैसे ही सामने देखने का प्रयास किया वैसे ही उन्होंने उस समय एक असाधारण तेज को देखा ॥ ६३ ॥

तस्यान्तः पुरुषं कंचित्तरुणेन्दुशिखामणिम् ।
सान्द्रीभूतशरच्चन्द्रचन्द्रिकाभं ददर्श सः ॥ ६४ ॥

राजा भगीरथ ने उस समय मस्तक पर मणि की तरह चमकने वाले चन्द्रमा को धारण किये हुये, तथा घनीभूत शरच्चन्द्र की कान्ति के समान किसी युवा पुरुष को देखा ॥ ६४ ॥

निर्बन्धक्लान्तभूषाहिनिर्दयाघ्रातमूर्च्छितम् ।
बोधयन्तं पुनः स्कन्दं चूडाचन्द्रसुधाकणैः ॥ ६५ ॥

बहुत देर से बधे रहने के कारण खिन्नसर्पों के निर्दय आघ्राण से मूर्च्छित

स्कन्द को मस्तक स्थित चन्द्रमा के सुधाकणों से प्रबोधित करते हुये राजा भगीरथ ने देखा ॥ ६५ ॥

हृदयं वीतमालिन्यं वाचमप्यमृतोर्मिलाम् ।
अधिष्ठातुमशक्तेन क्ष्वेलेनाक्रान्तकन्धरम् ॥ ६६ ॥

उनका हृदय कलमष रहित और वाणी अमृत तरङ्गों से परिपूर्ण थी। अनायास क्रीडापूर्वक शिथिल स्कन्धों से युक्त शिव जी आशीर्वाद देने के लिये उपस्थित थे ॥ ६६ ॥

दुर्दान्तत्रिपुरप्लोषवृत्तान्तज्ञैः सुधाशनैः ।
सातङ्कं दृष्टवदनं बहुमानस्मितेष्वपि ॥ ६७ ॥

भयंकर त्रिपुराग्नि वृत्तान्त को जानने वाले देवताओं से हास्य क्षणों में भी जिनका मुख भयंकर अनुभूत होता है ऐसे शिव जी को भगीरथ ने देखा ॥

कपालानि शिरःस्थानि स्कन्धे प्रत्येकशो विधेः ।
दत्त्वा तदीयजिज्ञासौ गणेशे कुपितं मृषा ॥ ६८ ॥

ब्रह्मा के शिरः कपालों को धारण करके उसकी जानकारी के जिज्ञासु गणेश पर बनावटी क्रोध करते हुये शिव को राजा भगीरथ ने देखा ॥ ६८ ॥

हेरम्बकन्धरालम्बिदूर्वाग्रग्रासकौतुकात् ।
गन्तुमुन्नमितग्रीवं गृहणन्तमसकृन्मृगम् ॥ ६९ ॥

गणेश जी की कन्धरा पर स्थित दूर्वाग्र ग्रास को ग्रहण करने के कुतूहल से ग्रीवा ऊपर उठाये चन्द्रमृग के बार-बार जाने पर उसे पकड़ते हुये शिव को भगीरथ ने देखा ॥ ६९ ॥

अस्मिन्दयस्व रक्षेममम‍ुं पश्येति नाकिनाम् ।
आवेदयन्त्या कार्याणि हैमवत्याप्यनूषितम् ॥ ७० ॥

इस पर दया करो, इसकी रक्षा करो, इसे देखो, इस प्रकार देवताओं के कार्य का निर्देशन करती हुई पार्वती भी शिव जी के पास बैठी थीं ॥७०॥

अथ दृष्ट्वा स देवेशमदृष्टं निगमैरपि ।
साध्वसाद्भुतसंभ्रान्तो न किंचित्प्रत्यपद्यत ॥ ७१ ॥

तदनन्तर वेदों से भी दुर्लभ दर्शनीय देवाधिदेव शिव जी को देखकर तज्जन्य घबड़ाहट और आश्चर्य से चकित भगीरथ किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये ॥ ७१ ॥

ततः प्रदक्षिणीकृत्य तन्मयं सपरिच्छदम् ।
मुहुः पस्पर्श धन्येन मूर्धा तस्याङ्घ्रिपङ्कजम् ॥ ७२ ॥

तदनन्तर तन्मयता पूर्वक अनुचरों के साथ शिव जी की परिक्रमा करके राजा भगीरथ ने अपने भाग्यशाली मस्तक से उनके चरणों का पुनः पुनः स्पर्श किया ॥ ७२ ॥

आत्मार्हैः फलपुष्पाद्यैरानर्च स महेश्वरम् ।
तदर्हैर्यदि यष्टव्यं कस्तमाराधयिष्यति ॥ ७३ ॥

राजा भगीरथ ने अपने लिये उपयुक्त फल पुष्पादि पूजन सामग्री से ही महेश्वर शिव की पूजा की, क्यों कि शिव जी के योग्य पूजन सामग्री से कोई भी उनकी आराधना नहीं कर सकता ॥ ७३ ॥

कायं क शंभुस्तदपि स्तोतुं समुपचक्रमे ।
न हि वस्तुकृता प्रीतिः स्वशक्तिमनुरुध्यते ॥ ७४ ॥

कहाँ भगीरथ, कहाँ शंभु ! फिर भी उन्होंने (भगीरथ ने) शिव की स्तुति करना प्रारम्भ किया, क्यों कि वस्तुनिष्ठ प्रसन्नता शक्ति को अवरुद्ध नहीं कर सकती ॥ ७४ ॥

त्वं गतिस्त्वन्मयं विश्वमिति साधारणी स्तुतिः ।
अस्तुतिस्त्वयि युक्ता तद्वाङ्मनसगोचरे ॥ ७५ ॥

आप ही गति हैं, पूरा विश्व आप के सदृश है; आप की यही साधारण स्तुति है, इसके अतिरिक्त वाणी और मन से आप की स्तुति असंभव है ॥७५॥

गुणं सन्तमसन्तं वा कीर्तयेद्यदि सा स्तुतिः ।
गृह्णन्गुणैकदेशं ते क इव स्तावको जनः ॥ ७६ ॥

वह साधारणी स्तुति भी यदि गुण अथवा निर्गुण का संकीर्तन करती है तो आप में गुणों को ग्रहण करता हुआ ऐसा कौन व्यक्ति है जो आप की स्तुति कर सके ॥ ७६ ॥

सर्वज्ञ शंकराभिख्यासमावेदितवैभवात् ।
त्वदृते किं परब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणम् ॥ ७७ ॥

सर्वज्ञ शंकरादि नामों से प्रसिद्ध वैभव के कारण आप से पृथक् ऐसा कौन है जिसमें परब्रह्म के लिये सत् चित् आनन्द का लक्षण घटित हो सके ॥७७॥

त्वत्प्रसूतो हरिर्यावत्त्रय्यन्तैरुपवर्ण्यते ।
तावत्प्रभावं भवतस्तर्कयन्ति मनीषिणः ॥ ७८ ॥

विद्वान् मनीषियों के तर्कसिद्धान्त के अनुसार आप का प्रभाव तबतक रहेगा जब तक आप से उत्पन्न होकर विष्णु भगवान् वेदत्रयी से वर्णित नहीं होते ॥ ७८ ॥

त्रिमूर्तिजननी तुर्या या मूर्तिर्विदितास्ति सा ।
यदि ते यदि वान्यस्य तन्मे ब्रह्मास्ति किं क्षतम् ॥ ७९ ॥

ब्रह्मा विष्णु महेश को उत्पन्न करने वाली जिस तुर्या मूर्ति का हमें परिज्ञान है यदि वह आपकी है या किसी अन्य की, तो क्या ऐसी स्थिति में हमारा विनाशशील है ? अर्थात् आप ही ब्रह्म हैं ॥ ७९ ॥

धर्मधर्मिभिदापन्नं चैतन्यं यदि मायया ।
जातौ तदेव हि युवां जगदादिमदम्पती ॥ ८० ॥

यदि धर्म और धर्मिगत भेद की तरह माया और चैतन्य का सम्बन्ध है तदनुसार आप दोनों ही (पार्वती-परमेश्वर) विश्व के सर्वप्रथम दम्पति हैं ॥ ८० ॥

कैवल्योपनिषद्धुष्टं यदिदं रूपमीश ते ।
संनिधत्तां तदा देव संस्मरामि यदा यदा ॥ ८१ ॥

हे भगवन् ! कैवल्योपनिषद् से घोषित यदि आप का यही रूप है तो जब-जब मैं आप को स्मरण करूँ तब-तब आप हमें दर्शन दें ॥ ८१ ॥

इति तुर्यन्तसिद्धान्तनिष्कर्षामृतवर्षिणा ।
वाङ्मुखेन स्तुतस्तेन व्याजहारेदमीश्वरः ॥ ८२ ॥

इस प्रमाण रूप में वैदिक ऋचाओं के तत्वामृत वृष्टि करने वाले मुख से भगीरथ की स्तुति के बाद शिव जी ने कहा ॥ ८२ ॥

यत्तप्तवानसि तपो यच्चैवं भक्तिमानसि ।
ततः प्रीतिजुषो मत्तस्तात काङ्क्षितमर्थ्यताम् ॥ ८३ ॥

तुमने जैसा तप किया और तुम्हारे हृदय में जैसी भक्ति है उससे मैं प्रसन्न हूँ । हे वत्स, अपनी इच्छा से जो चाहते हो मांगलो ॥ ८३ ॥

इत्याज्ञापयति स्वामिन्येतदाह भगीरथः ।
संभ्रमामोदसंबाधस्तग्धगद्गदया गिरा ॥ ८४ ॥

इस प्रकार शिवजी के आदेश देने पर हर्ष उमड़ने से कण्ठावरुद्ध वाणी के द्वारा राजा भगीरथ ने इस प्रकार कहा ॥ ८४ ॥

आगतोऽसि मदर्थं यदागसोऽस्यैव शान्तये ।
नालं मम तपः सर्वं नाथ केनार्थये वरम् ॥ ८५ ॥

मेरे प्रयोजन से ही आप यहाँ आये अथवा इस अपराधी का क्षमादान से शान्ति के लिये आप का आगमन हुआ । ऐसी स्थिति में मेरी सम्पूर्ण तपस्या अपर्याप्त है, किससे वरदान की याचना करूँ ॥ ८५ ॥

तथाप्यद्य त्वदीयाङ्घ्रिसाक्षात्कारोपसंभृतैः ।
तपोभिरर्थये तात काङ्क्षितं मे त्वदाज्ञया ॥ ८६ ॥

फिर भी आज आप की आज्ञा तथा चरणों के साक्षात्कार जन्य तप से मैं अपना अभीष्ट कहता हूँ ॥ ८६ ॥

तपसाराधिता गङ्गा याचितावतरा मया ।
स्वाम्बुवेगसहं केचित्प्रत्ययाचत मां पुनः ॥ ८७ ॥

मैंने आराधना से प्रसन्न गङ्गा से अवतरण की प्रार्थना की थी किन्तु उन्होंने अपने जल वेग का धारण करने में किसी समर्थशाली की याचना की है ॥८७॥

अस्मिन्ननन्यसाध्येऽर्थे व्यापर्तुमुचितं तव ।
अत्रोदाहरणं मुख्यं हालाहलविनिग्रहः ॥ ८८ ॥

किसी अन्य से असाध्य इस कार्य को आप ही कर सकते हैं, क्योंकि कभी आप ने अपने मुख में हालाहल (विष) धारण किया था ॥ ८८ ॥

आयासमीदृशं यत्त्वमर्थितोऽसि जगद्गुरो ।
तन्मम क्षम्यतां बाल्यचापल्यमिति चानमत् ॥ ८९ ॥

हे विश्वगुरो, मेरा यही प्रयास है, मैंने आप से अपने अभीष्ट की याचना की है इसलिये इस बाल चापल्य को क्षमा करें । ऐसा कहकर राजा भगीरथ शिव जी के चरणों में गिर पड़े ॥ ८९ ॥

अभिषेकप्रियाणां नः प्रियमेतत्कृतं त्वया ।
नापराद्धं पुनः किंचिदित्युवाच तमीश्वरः ॥ ९० ॥

अभिषेक प्रिय होने से हमारे लिये आपने यह उचित कार्य किया है । यह अपराध नहीं है, ऐसा शिव जी ने भगीरथ से कहा ॥ ९० ॥

अभिधाय वृषात्तूर्णमवरुह्य महेश्वरः ।
निषसाद पुरस्तस्य निर्मले स्फाटिके तले ॥ ९१ ॥

इस प्रकार आदिष्ट कर और वृष से उतर कर शिव जी भगीरथ के सामने स्वच्छ स्फटिक शिला पर बैठ गये ॥ ९१ ॥

आबद्ध्य चर्म वैयाघ्रमपसार्य च बालकौ ।
सावष्टम्भः क्षितावास्त सज्जीभूतो वृषध्वजः ॥ ९२ ॥

व्याघ्र चर्म पहन कर तथा दोनों बालकों (गणेश-स्कन्द) को हटाकर अहंकृति गर्जना के साथ शिव जी पृथ्वी पर खड़े हो गए ॥ ९२ ॥

सावलेपनभःसिन्धुसंनिपातोचितं प्रभोः ।
नन्दी विस्रंसयामास नागेन्द्रग्रथिता जटाः ॥ ९३ ॥

गर्वशालिनी सुरनदी के गिरने के लिये पर्याप्त शिव की निबद्ध जटाओं को नन्दी ने खोल दिया ॥ ९३ ॥

भगिनीसमागमसमुत्सुका शिवा
प्रमथास्तदद्भुतदिदृक्षयाकुलाः ।
स्वमनोरथोपगमसान्द्रकौतुको
नृपतिश्च तं निभृतमक्षिभिः पपौ ॥ ९४ ॥

पार्वती उस समय भगिनी के आगमनार्थ उत्कण्ठित थीं। प्रमथ गण होने वाले आश्चर्यजनक दृश्य को देखने की इच्छा से व्याकुल हो रहे थे। राजा भगीरथ भी अभीष्टोपलब्धि कुतूहल से निमेष रहित होकर शिव जी को देखने लगे ॥ ९४ ॥

बद्धस्रस्तकपर्दकन्दरपतद्भोगीन्द्रचन्द्राङ्कुर-
क्षेपव्यावृतनन्दिदृष्टिवलनव्याधूतदिग्भितयः ।
सावष्टम्भमहेशसंभ्रमपरित्रस्यत्त्रिलोकस्तुताः
पारे मद्वचसाममर्त्यतटिनीसंपातपूर्वक्षणाः ॥ ९५ ॥

जटा-बन्धन खुल जाने पर उसके अन्दर सर्प तथा चन्द्रमा अङ्कुर की तरह लग रहे थे। चारों तरफ व्याप्त नन्दी की दृष्टि से दिशाएँ प्रकम्पित हो गयीं। गर्जना से घबड़ाहट के कारण भयभीत होकर तीनों लोक स्तुति करने लगे। उस सुरनदी के पतन का यह पूर्वक्षण मेरी वाणी से किसी भी प्रकार वर्णनीय नहीं हो सकता ॥ ९५ ॥

इति श्रीनीलकण्ठदीक्षितप्रणीते गङ्गावतरणे शिवसाक्षात्कारो
नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमः सर्गः

प्रान्तसंक्रमिततारया दृशा पश्यति त्रिपुरशासने ततः ।
अस्मरत्सुरनदीमहंकृतां ध्यानयोगविधिना भगीरथः ॥ १ ॥

तदनन्तर चारों तरफ भ्रमित दृष्टि से शिव जी के देखने पर राजा भगीरथ ने ध्यान योग की विधि से गर्वित सुरनदी को स्मरण किया ॥ १ ॥

संभृता मनसि सा ततः क्षणात्संभ्रमेण महताकुलीकृता ।
सर्वतश्चिरनिरोधलज्जितं सज्जतामनयदूर्मिमण्डलम् ॥ २ ॥

क्षण भर में ही सुरनदी मन में घबड़ाहट के कारण अत्यधिक व्याकुल हो गयी । चारों तरफ से निरुद्ध होने से लज्जित अपनी तरङ्गों को उतरने के लिये तैयार किया ॥ २ ॥

सा निवेदयितुमात्मनिर्गमं सन्निकर्षमुपजग्मुषी विधेः ।
व्याजहार विनयावधीरणव्यक्तगर्वगरिमोष्मला गिरः ॥ ३ ॥

आकाश-गङ्गा अपनी यात्रा के निवेदनार्थ ब्रह्मा जी के पास गयी और विनय रहित गरिमा गर्वित वाणी में उनसे कहा ॥ ३ ॥

अस्ति न्वयमयुग्मलोचनः स्फाटिकाचलचरो वनेचरः ।
धर्तुमिच्छति स नाम मामकं त्वत्परीक्षितमहारयं पयः ॥ ४ ॥

दो से अधिक (तृतीय) नेत्र वाले, स्फटिक पर्वत पर चलने वाले, वनेचर शिव आप से परीक्षित महा प्रतापी मेरे जल वेग को धारण करना चाहते हैं ॥ ४ ॥

स प्रकामजरठो गुरुः पिता सा च मुग्धहृदया यवीयसी ।
व्याहतो यदि न मे समुद्यमः कः शिवः क इव राजतो गिरिः ॥५॥

अत्यन्त वृद्ध गुरु पिता और मुग्धहृदया लघु भगिनी से यदि मेरा प्रयास बाधित न हुआ तो शिव और कैलास दोनों का विनाश निश्चित है ॥ ५ ॥

त्वद्गृहे स्थितवती चिरादहं त्वामनेन परितोषये ततः ।
त्वच्छिरोलवनकर्म दुर्मदं संनिपात्य गिरिशं रसातले ॥ ६ ॥

मैं बहुत समय तक आप के घर में रही इसलिये आप के शिरःकर्तन कर्म से दुर्मद उस शिव को रसातल में ढकेल कर आपको सन्तुष्ट करूँगी ॥ ६ ॥

सावलेपनिपतन्मदूर्मितासंप्लवैककवलीकृतो हरः ।
संगतः पयसि शङ्खशुक्तिभिर्नन्दिना ननु गवेषयिष्यते ॥ ७ ॥

भयंकर ध्वनि करने वाली गिरती हुई मेरी तरङ्गों के प्लवन में ग्रसित शिव जल में शङ्ख-शुक्तियों के साथ निश्चित रूप से नन्दी द्वारा खोजे जायेंगे ॥

कालकूटमिव मन्यते शिवो मामकं प्रकृतिदुर्मदं पयः।
ब्रूहि तावदधुनापि मेति तं मा विषीदतु यवीयसी पुनः ॥ ८ ॥

प्रकृत्या दुर्मद मेरे जल प्रपात को शिव का कूट (विष जो शिव जी ने पान किया था) की तरह समझते हैं उनसे आप ऐसा न समझने को कहें जिससे मेरी लघु भगिनी (शिव के अभाव में) दुःखी न हो । ८ ॥

शङ्कितो जगदकाण्डविप्लवाद्याचते यदि भवानथापि माम्।
तं मदम्बुवहनातिमानिनं कंचिदेव शमयामि नापरम् ॥ ९ ॥

संसार के असामयिक प्रलय की आशंका के यदि आप भी मेरी याचना करते हैं तो मेरे जल वेग को धारण करने वाले अभिमानी शिव को मैं किसी भी प्रकार सहन नहीं कर सकूँगी ॥ ९ ॥

कर्णयोर्यदि पतेयुरन्ततो गर्जितानि चलतां मदम्भसाम्।
तत्त्वतः कथय किं भवेच्छिवस्त्वं हितन्महिमलेशवेदिता ॥ १० ॥

मेरे जल-प्रपात की गर्जना यदि उनके कानों में पड़ेगी तो आप ही कहें शिव का क्या होगा ? क्योंकि आप ही उसके वेग का स्वल्प परिज्ञान रखते हैं ॥ १० ॥

इत्थमुद्धतमुदीर्य सा विधिं संगतानपि सुरानभाषत।
मा परित्रसत मामकं पयो लज्जते बलपराक्रमाय वः ॥ ११ ॥

ब्रह्मा जी से इस प्रकार अहंकृतिपूर्ण वचनों को कहकर वहाँ स्थित देवताओं से भी सुरनदी ने कहा आप निडर रहें, आप लोगों के पराक्रम के लिये मेरा जल लज्जित होता है ॥ ११ ॥

यात यूयमपयात च क्षणं देवता निजनिजालयांस्ततः।
कौतुकं तु यदि वोऽस्ति वीक्षितुं कोणमावसत निर्भया दिशाम् ॥१२॥

आप लोग अब जा सकते हैं यदि उस दृश्य को क्षणिक देखने का कुतूहल है तो निर्भय होकर दिशाओं के कोण भाग में चले जायँ सुरनदी के इस प्रकार कहने पर देवगण अपने अपने गन्तव्य को चले गये ॥ १२ ॥

त्रासिताः किल तयैवमुक्तिभिः पार्श्वमापुरमराः पिनाकिनः।
कस्य नाम न तथा विधा गिरः क्षोभयेयुरपि चाश्मनं मनः ॥ १३ ॥

सुरनदी की ऐसी उक्तियों से संत्रस्त देवतागण भयभीत होकर शिव के

समीप गये। किसके पत्थर मन को ऐसी उक्तियाँ क्षुभित नहीं कर देंगी? अर्थात् सभी सुरनदी की उक्ति से भयभीत हो जायेंगे ॥ १३ ॥

उद्यतान्गदितुमापगागिरः स्तम्भितानथ निजेन तेजसा।
आकलय्य नयनाञ्चलैः सुरानन्तरस्मयत चन्द्रशेखरः ॥ १४ ॥

तदनन्तर सुरनदी की उक्ति को कहने के लिये समुद्यत देवगणों को अपने तेज से स्तम्भित जानकर चन्द्रशेखर ने उन्हें आंखों के इशारे से शान्त कर दिया ॥ १४ ॥

संनिवृत्य सदसस्ततो बहिः क्रोधमन्थरविसंस्फुटैः पदैः।
आविवेश सरसीं ततो नु तामापगापि जगदाक्रमोद्यता ॥ १५ ॥

तदन्दर विश्व के अतिक्रमणार्थ उद्यत वह सुरनदी ब्रह्मनिवास से क्रोधावेष्टित रूप से बाहर लौटकर जलकुण्ड में समा गयीं ॥ १५ ॥

स्थापिताः कमलजन्मना पुरा सेतवः श्रुतिमयाः समन्ततः।
संनिपत्य सकृदेव संप्लुतैरूर्मिभिस्त्वरितमुल्ललङ्घिरे ॥ १६ ॥

बहुत पहले चारों तरफ से ब्रह्माजी के द्वारा निर्मित वैदिक सेतुओं को एक बार में ही गिराकर उछलती हुई तरङ्गों से शीघ्र ही उनका अतिक्रमण कर दिया ॥ १६ ॥

प्राणिनां प्रति युगान्तमर्णवैर्यामकल्पयत पद्मभूर्दशाम्।
सैव तस्य फलिता तदा तया कर्मणः क इव नाश्नुते फलम् ॥१७॥

प्रलयकालिक समुद्रों से ब्रह्मा जी ने प्राणियों की जिस दशा को परिकल्पित किया था उस समय सुरनदी के द्वारा वही स्थिति उपस्थित हो गयी। ऐसा कौन है जो कर्म फल नहीं भोगता ॥ १७ ॥

प्राप्यजानुमतिलङ्घ्य नाभिमप्यम्भसि क्षणमथास्य संमितं।
क्रन्दतामशरणं तपस्विनो सुश्रुवे कलकलान्वितं वचः ॥ १८ ॥

अनन्तर क्षण मात्र ही में घुटने को प्राप्तकर नाभि का अतिक्रमण करने वाले जल में शरण के लिये चिल्लाते हुये तपस्वियों के कोलाहल पूर्ण वचन ही सुनाई पड़ रहे थे ॥ १८ ॥

सर्वतः सुरतरङ्गिणी जलैः संप्लुते सदसि तत्र वेधसः।
प्राणसंयमनशिक्षया परं मज्जिता न कतिचिन्महर्षयः ॥ १९ ॥

सभी ओर से सुरनदी के जल से ब्रह्म निवास डूब जाने पर प्राणायाम के अभ्यास से कुछ महर्षि ही नहीं डूब सके ॥ १९ ॥

वक्रसौधवलभी गता विधेः शारदापि सहसोत्थिता सती ।
उद्गृहीतकरपुस्तका भयादक्षिपद्युगमिव क्षणं क्षणम् ॥ २० ॥

जिनकी वीणा वक्रोक्ति रूपा अमृत से परिपूर्ण है वे शारदा भी विधिवशात् पुस्तक हाथ से ऊपर उठाये शीघ्रता से चलती हुई क्षण-क्षण को युग की तरह अनुभव रह रही थी ॥ २० ॥

विश्वसर्गचतुरोऽपि पद्मभूर्न प्रतिव्यधित तत्र किंचन ।
स्वैरमस्तु कुशलः परापदि स्वापदि त्वकुशलोऽखिलो जनः ॥२१॥

विश्वसृष्टि में चतुर ब्रह्मा भी उस समय कुछ भी नहीं कर सके । लोग दूसरों की विपत्ति में उपदेश कुशल होते हैं किन्तु अपनी विपत्ति में तो सभी लोग अकुशल (किंकर्तव्यविमूढ़) होते हैं ॥ २१ ॥

सत्यलोककुहरक्षणासिकासंकटा क्षमतयेव तत्क्षणम् ।
निर्जगाम परितस्ततो बहिस्तन्निसर्गनिरवग्रहं पयः ॥ २२ ॥

सात लोकों में सर्वोन्नत सत्यलोक जहाँ ब्रह्मा जी निवास करते हैं वहाँ कुहरा की तरह सुरनदी का जल व्याप्त हो गया । इस समय शक्तिशाली होने से प्रकृत्या तीव्रगामी धाराप्रवाह सुरनदी का जल सर्वत्र बहने लगा ॥ २२ ॥

गाधभाजि गतविक्रियं जले सस्मितं तदनु नाभिमात्रके ।
सोक्तिगुम्फमपि दर्शितस्थले वक्रमण्डलमधाच्चतुर्मुखः ॥ २३ ॥

जिस मार्ग में जल होने पर भी पैदल जाया जा सकता था थोड़ी ही देर में वहाँ नाभि पर्यन्त जल उपस्थित हो गया । ऐसी स्थिति में स्पष्ट दिखाई पड़ने वाले स्थल में भी ब्रह्मा जी ने वक्र मुखमण्डल धारण किया ॥ २३ ॥

तारिता वयमिमां महापदं तावकादिह तपोबलादिति ।
स स्तुतः परिजनेन लज्जितः कः स्तुतेरपि वधोऽभिषङ्गिणः ॥२४॥

आप की तपस्या के प्रभाव से हम सभी बड़ी विपत्ति से पार हो गये । इस प्रकार परिजनों की स्तुति से वहाँ उस समय ब्रह्मा जी लज्जित हो गये । असामयिक स्तुति से किसे प्रसन्नता होगी ? ॥ २४ ॥

फेनिलाः सलिलशोषरेखकाः सर्वतः सदनभित्तिपर्वसु ।
आयतश्वसितमानमन्मुखं पश्यति स्म स दृशातिदीनया ॥ २५ ॥

सत्यलोक के ब्रह्म सदन की दीवालों पर सर्वत्र फेनिल जल रेखा को ब्रह्मा जी दीर्घ निःश्वास लेते हुये अत्यधिक दैन्य दृष्टि से देखने लगे ॥ २५ ॥

नाजपं किमिति मन्त्रमानलं नासृजं किमिति चाभितस्तटीः ।
इत्यखिद्यत विधिर्गते जले सा किल प्रकृतिरग्रजन्मनाम् ॥ २६ ॥

जल से बचने के लिए मैंने अग्निमन्त्र का जप क्यों नहीं किया ? चारों तरफ तटों का निर्माण क्यों नहीं किया ? इस प्रकार सोचते हुये ब्रह्माजी जल रहित होने पर निराश एवं उदासीन हो गए ॥ २६ ॥

आननैर्हसितवाष्पकर्बुरैरद्य जीवितमिवेति वादिभिः ।
दोर्भिरत्यधिकदूरचालितैरालिलिङ्ग मुनिमण्डलं मिथः ॥ २७ ॥

हर्षाश्रुजन्य मलिनता पूर्ण मुख से आज हम जीवित है इस प्रकार कहने वाले मुनिगण शीघ्रता के साथ परस्पर हाथ उठाकर आलिङ्गन करने लगे ॥२७॥

सत्यलोकमपहाय निश्चिते गन्तुमिन्द्रपुरमभ्रगङ्गया ।
धावयन्पथि जनान्पुरो ययौ वेत्रपाणिरिव वीचिमारुतः ॥ २८ ॥

सत्यलोक का परित्याग कर इन्द्रपुरी जाने के लिए गङ्गा जी के द्वारा निश्चित होने पर मानों हाथ में वेत्रदण्ड लिए जल तरङ्गित वायु लोगों के मार्ग में दौड़ता हुआ बहने लगा ॥ २८ ॥

पाकशासनपुराश्रये पदे स्वेच्छया विहरतां सुधान्धसाम् ।
आगतं प्रलयमाचचक्षिरे जाह्नवीजलझलज्झला रवाः ॥ २९ ॥

आकाश में स्वेच्छया विहार करने वाले इन्द्रपुर के यक्षों को सुरनदी के झर-झर करते जल प्रपाती शब्द ने आने वाले प्रलय को सूचना दी । २९ ॥

संभ्रमोपगतचारशंसितस्वर्गसिन्धुपतनं पदे पदे ।
सौधशृङ्गवलभीनिवेशितस्वस्वमूलधनमप्सरो जनैः ॥ ३० ॥

घबड़ाहट के साथ आकर गुप्तचरों के द्वारा सुरनदी के पतन से सम्बन्धित सूचना देने पर अप्सराओं ने अपनी-अपनी सम्पत्ति सदन के सर्वोच्च स्थान में रख दिया ॥ ३० ॥

मन्दुरोदरविमुक्तविद्रवत्सैन्धवानुचरसादिमण्डलम् ।
दिक्तटोच्चलितजाङ्घिकामरस्वीकृताभ्रककुलं गृहे गृहे ॥ ३१ ॥

अश्वशाला से मुक्त होकर भागते हुए घोड़ों का अनुसरण करने वाले सारथियों का समूह तथा प्रत्येक गृहों के ऊपर दौड़ते हुए देवताओं से अपने को बादलों के समूह में सम्मिलित करने का दृश्य उस नगर में व्याप्त हो गया ॥

निर्गतत्रिदशनाथदर्शनस्तब्धविद्रवदनीकिनीभटम् ।
इत्थमाकुलमतर्कितागता सा चकार नगरं शचीपतेः ॥ ३२ ॥

(त्रिभिस्तिलकम्)

निकले हुए देवेन्द्र के दर्शन से स्तब्ध होकर भागते हुए योधाओं और

शचीन्द्र नगरी के निवासियों को अप्रत्याशित रुप से उपस्थित उस सुरनदी ने व्याकुल कर दिया ॥ ३२ ॥

संपपात हरिनीलदन्तुरे वैजयन्तशिखरे समन्ततः ।
सा ततो विदधतीव संस्तवं मस्तके निपतितुं महेशितुः ॥ ३३ ॥

तदन्तर शिव जी के मस्तक पर गिरने के लिए वह सुरनदी मानों स्तुति करती हुई सिंह दन्त की तरह शुभ्र समुन्नत इन्द्र के राजभवन पर पूर्ण वेग के साथ अवतरित हुईं ॥ ३३ ॥

सर्वतः प्रचलितैः कणात्मना सौधश्रृङ्गपतितैस्तदम्बुभिः ।
संगतो न समलक्ष्यत क्षणं निर्मलः सुरपतेर्मंदावलः ॥ ३४ ॥

राजभवन के शिखर पर गिरे हुए चपल जल वेग से कणों के द्वारा क्षण मात्र के लिए इन्द्र-भवन अलक्षित हो गया ॥ ३४ ॥

वैजयन्तविनिपातवेगतो दूरमुत्पतति तत्पयोभरे ।
छत्रगर्भनिहितेव सा पुरी नाजनि क्वचिदपि क्षतोदरा ॥ ३५ ॥

राजभवन के समुन्नत शिखर पर गिरकर वेग से दूर तक गिरने वाले जल से वह विशाल नगरी कहीं भी क्षतिग्रस्त नहीं हुई जैसे छत्रधारी व्यक्ति जल वृष्टि से अप्रभावित रहता है ॥ ३५ ॥

प्राप्य सानुपदमेव मेदिनीं यं यमम्भसि निमज्जयिष्यति ।
तं तमत्र विनिधातुमेव किं त्रायते स्म निपुणं त्रिविष्टपम् ॥३६॥

शीघ्र ही वह सुरनदी पृथ्वी को प्राप्त कर जल में जिस-जिस को डुबो देगी क्या उन सभी की रक्षा के लिए ही इन्द्रपुरी को सुरक्षित बनाया गया है ॥

सा ततः प्रचलिता समन्ततो व्यानशे निरवशेषमम्बरम् ।
संविभक्तपरभागसुन्दरी चन्द्रिकेव शरदागमोज्ज्वला ॥ ३७ ॥

तदनन्तर सुरनदी ने पूर्ण आकाश को चारों ओर से उसी प्रकार व्याप्तकर लिया जैसे शरद ऋतु के आगमन से चन्द्र-किरणें और भी शुभ्रता के साथ चारों ओर फैल जाती हैं ॥ ३७ ॥

सा दिवि प्रमथनाथकुन्तले संभ्रमद्विलवीचिमण्डला ।
तर्क्यते स्म चतुरैः सुधाशनैर्मालिकेव नवमल्लिकामयी ॥ ३८ ॥

परिभ्रमित स्वच्छ जल तरङ्गों वाली वह सुरनदी आकाश में ऐसी लग रही थी मानो शिव जी की जटा में मल्लिका की माला हो, ऐसा चतुर देवताओं ने अनुभव किया ॥ ३८ ॥

व्योम्नि तल्लहरिवल्लरिहृता ये सुराः सुरगजाश्च केचन।
ते तदीयजलजन्तवो न चेत्को नरः पयसि कश्च सिन्धुरः ॥ ३९ ॥

सुरनदी के तीव्र जल प्रपात में कुछ हाथी और देवता आकाश में तरङ्गों के साथ (बहकर) आये थे यदि वहाँ जल-जन्तुओं का अभाव होता तो जल में उस समय हाथी और नर का परिज्ञान न हो पाता ॥ ३९ ॥

तज्जलभ्रमिभिराहितभ्रमा नन्दनोपवनपादपास्तदा ।
संप्रहर्तुमसमेक्षणं तया भ्रामिता इव गदा विरेजिरे ॥ ४०॥ ॥

सुरनदी की भँवरों से परिभ्रमित नन्दन वन के वृक्ष उस समय ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानों निशाने के साथ सुरनदी ने गदा को घुमाया है ॥४०॥

निम्नभागविनिपातसंभृता निस्तला रुरुचिरे जलभ्रमाः।
गङ्गया निगमसेतुसंस्तवादार्जिताः प्रणवमण्डला इव ॥ ४१ ॥

शब्दायमान निम्न गमतोन्मुखी जल भँवरें ऐसी लग रही थीं जैसे गङ्गा जी के द्वारा वैदिक स्तुति से उत्पन्न प्रणव (ओंकार रूप वाद्य विशेष) समूह हो ॥४१॥

आदिभिक्षुगृहिणीं यवीयसीं सा सभाजयितुमुद्यता दिवः ।
आजहार विविधानि भूषणान्यम्बराणि च महेन्द्रमन्दिरात् ॥४२॥

सुरनदी ने आदि भिक्षु शिव की गृहिणी और अपनी छोटी बहन पार्वती को उपहार देने की इच्छा से मानों इन्द्र भवन से अनेक वस्त्राभरणादि ग्रहण किया ॥ ४२ ॥

मुक्तदिव्यतरुपुण्यवृष्टयः श्लाघनोक्तिमुखराश्च सर्वतः।
आहृता लहरिमारुतैस्तथा सिद्धचारणगणाः सहाययुः ॥ ४३ ॥

सभी ओर से दिव्य वृक्षों की पुष्पवृष्टियाँ और प्रशंसा करने में मुखर सिद्ध-चारणों के समूह जलतरङ्गों से अपहृत होकर साथ ही चले आये ॥ ४३ ॥

उद्गताभिरितरेतराहतादूर्मिभिः सुरगणः समुच्छ्रितः।
आससदत्सदनमेव वेधसः को न तच्छ्रयति तज्जालप्लुतः ॥ ४४ ॥

बहने वाली तीव्र जल तरङ्गों के परस्पराघात से देवगण शीघ्र ही ब्रह्मलोक को प्राप्त हो गये। ऐसा कौन है, जो उस जल से स्नपित होकर कल्याण को न प्राप्त करे ॥ ४४ ॥

वीचिवेगपरितुष्टसंपतत्पाकशासनपताकिनीसखी ।
योद्धुमुद्यतवतीव वाहिनी सा जगाम सविधं महेशितुः ॥ ४५ ॥

इन्द्र-सेना सखी की तरह अभीष्ट जल तरङ्गों से गिरती हुई वह सुरनदी ने युद्ध के लिये उद्यत की तरह शिव के समीप प्रस्थान किया ॥ ४५ ॥

आ विरिञ्चिगृहमा हिमाचलं निर्मला रुरुचिरे तदूर्मयः ।
स्वर्वधूभिरभितो दिदृक्षया पातिता इव कटाक्षरेखिकाः ॥ ४६ ॥

ब्रह्मलोक से हिमालय तक सुरनदी की स्वच्छ लहरें ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानों स्वर्ग देखने की इच्छा से की गयी कटाक्ष रेखायें हों ॥ ४६ ॥

प्राप्य शंकरकपर्दकन्दरं संभ्रमन्निह तदूर्मिमारुतः ।
क्रोशति स्म सुरसिन्धुमुद्यतां मा पतेति विनिवारयन्निव ॥ ४७ ॥

शिव शिरस्थ जटा रूपी कन्दरा को प्राप्तकर परिभ्रमित तरङ्ग वायु पतनोद्यत सुरनदी को यहां मत गिरो ऐसा रोकता हुआ मानो चिल्ला रहा था ॥४७॥

सानुरागबहुमानमानतां सा शिवामभिकपार्श्ववर्तिनीम् ।
एकया किल तरङ्गरेखया पाणिनेव मृदुलं परामृशत् ॥ ४८ ॥

अनुराग और अत्यधिक सम्मान वाली शिव की पार्श्ववर्तिनी शिवा को उस सुरनदी ने सुकोमल हाथ की तरह केवल अपनी एक तरङ्ग से स्पर्श किया । ४८॥

तत्प्रवाहमुखवल्गदूर्मिकाशीर्णशीकरसमुत्थितास्तदा ।
ताडिता इव महोपलैस्ततो दूरदूरममरा विदुद्रुवुः ॥ ४९ ॥

उस समय नदी के धारा प्रवाह से निकली तरङ्गें छोटे-छोटे कणों के रूप में ऐसी लग रही थीं मानों उसमें विशाल शिलाखण्ड फेंके जा रहे हों इसीलिये देवगण दूर-दूर भागने लगे ॥ ४९ ॥

कोपलेशपरुषैरवज्ञया कूणितैरपि विलोचनाञ्चलैः ।
पश्यति स्म पतनोन्मुखीं नमीं[1] नीषदुन्नमितकन्धरो हरः ॥५०॥

अवज्ञा के कारण कुछ क्रुद्ध होने से कठोर एवं नेत्रों के बन्द होने पर भी ग्रीवा को ऊपर उठाये शिवजी ने गिरने वाली नदी को देखा ॥ ५० ॥

यावदानमयते यथा पुरं द्रष्टुमुन्नमितमीश्वरः शिरः ।
तावदेव निपपात तत्र सा विस्मयाय मिषतां दिवौकसाम् ॥ ५१ ॥

जैसे ही भगवान् शंकर ने ऊपर देखने के लिये शिर उठाया वैसे ही देवताओं के विस्मय हेतु वह सुरनदी अवतरित हुई ॥ ५१ ॥

शापकोपकलुषेव सा विधिं संनिमज्ज्य सुचिरं विनिर्गता ।
तत्कपालमपि शांभवे शिरस्याजघान परुषभिरूर्मिभिः ॥ ५२ ॥

---

१. संभावित मुद्रण दोष से यहाँ नमी के स्थान पर नदी शब्द अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है ऐसी स्थिति में अनुवादक ने नदी शब्द का ही आधार माना है ।

किसी समय ब्रह्माजी ने सुरनदी को शाप दिया था, क्या इसीलिये उसने उन्हीं को सुचिर निमज्जित कर निकल गयी और इतने पर उनका क्रोध शान्त नहीं हुआ अतः अपनी कठोर तरङ्गों से शंभु शिरस्थ ब्रह्मा के कपाल को उद्देश्य कर प्रहार किया ॥ ५२ ॥

तस्य पञ्चमशिरोनिपातनादर्धदुर्मरणमापपात यत् ।
पातकं परिजहार तद्भवं पावनेन पयसा वियन्नदी ॥ ५३ ॥

ब्रह्मा के पञ्चम शिरः कर्तन से जो अपूर्ण मरण स्थिति उपस्थित हुई उससे उत्पन्न पातक कर्म को सुरनदी ने अपने पवित्र जल से प्रक्षालित कर दिया ॥ ५३ ॥

तज्जयादुपहतं दिवौकसां तस्य मूर्धनि विमानमण्डलम् ।
वेत्रदण्डबलनेन नन्दिनो दिङ्मुखेषु निपपात दूरतः ॥ ५४ ॥

नदी वेग से आये हुये शिवजी के ऊपर आकाश में देवताओं के विमान मण्डल को नन्दी के परिभ्रमित वेत्रदण्ड ने दूर भगा दिया ॥ ५४ ॥

केयमार्द्रयति मस्तकं गुरोस्तद्ग्रसेय निखिलामसूमिति ।
किञ्चिदुच्छ्रितकरे गजानने हुंकृतान्यकृत सत्रपं शिवः ॥५५॥

यह कौन है जो गुरु के मस्तक को आर्द्र कर रही है। मैं इसको पूर्ण रूप से अभी ग्रसित करता हूँ। इस प्रकार कहकर गजानन के शुण्ड ऊपर उठाने पर शिव ने उन्हें शान्त कर दिया ॥ ५५ ॥

वीचिमारुतवितीर्णपारणामांसलाः शिवकपर्दपन्नगाः ।
संप्रसार्य फणमापदस्ततः संररक्षुरमृतांशुरेखिकाम् ॥ ५६ ॥

सुरनदी के तरङ्गित वायु को पीने से स्वस्थ मोटे शिव शिरस्थ सर्पों ने अपने फणों को फैलाकर चन्द्रमा को डूबने से बचाया ॥ ५६ ॥

अप्रतर्क्यमसमीक्षितावधिं तं कपर्दवलयं पिनाकिनः ।
आपगा दिविषदामवाङ्मुखी पन्नगीव कलशं समाविशत् ॥ ५७ ॥

अप्रत्याशित एवं पतन की अवधि से अनभिज्ञ शिवशिरोमण्डल को देवताओं के देखते ही देखते सर्पिणी जैसे कलश में प्रवेश करती है उसी प्रकार निम्नमुखी यह सुरनदी शिव जटा-वलय में प्रविष्ट हो गयी ॥ ५७ ॥

तज्जटासु विशती वियन्नदी साकियत्पथमदृश्यतामरैः ।
शुश्रुवे तदनु तज्जलारवो यस्य किंचिदपलभ्यते ततः ॥ ५८ ॥

शिव की जटा में प्रवेश करती हुई सुरनदी को देवताओं ने मार्ग में क्षणिक

ही देखा। तत्पश्चात् वहाँ नदी प्रपात की ध्वनि ही सुनाई पड़ रही थी जिसका उस समय कोई महत्व नहीं था ॥ ५८ ॥

तज्जटापटलकन्दरोदरस्वीकृताः सुरनदीमहोर्मयः ।
लेशतोऽपि किल नाललक्षिरे सत्क्रिया इव कृतघ्नगोचराः ॥५९॥

शिव जी की जटा रूपी कन्दरा में प्रविष्ट होकर सुरनदी की विशाल तरङ्गे उसी प्रकार अदृश्य हो गयीं जैसे कृतघ्नी व्यक्ति किसी के उपकार को नहीं देख पाता ॥ ५९ ॥

मूर्ध्नि तस्य मुहुराहितभ्रमा प्राप सा न पदवीं निवर्तितुम् ।
दुर्लभं ननु जगत्सु देहिनां तं प्रविश्य विनिवर्तनं पुनः ॥ ६० ॥

जैसे शरीरधारियों के लिये संसार में आकर प्रत्यावर्तन दुर्लभ होता है वैसे ही शिव जी की जटा में बार-बार भ्रमित होकर वह सुरनदी पुनः न लौट सकी ॥ ६० ॥

अभ्यषिञ्चदमरापगा शिवं यच्छ्रुतिव्यतिकरानघैर्जलैः ।
तेन किं नु कुकृतेन भूयसा तत्क्षणाल्लयमवाप तत्र सा ॥ ६१ ॥

सुरनदी ने वेद वर्णित अघरहित जल से शिवाभिषेक किया। क्या इसी विशाल पुण्य से वहाँ उन्होंने स्थान प्राप्त किया ? ॥ ६१ ॥

तापितासु नयनाग्निहेतिभिस्तज्जटासु पतितास्तदूर्मयः ।
अम्भसां पुनरतिप्रबन्धतः क्लेदमात्रमदिशन्कथंचन ॥ ६२ ॥

नेत्राग्नि संतप्त जटाओं में गिरी हुई सुरनदी की तरङ्गों के जल के प्रतिबन्धित होने से किसी प्रकार क्लेश का अनुभव किया ॥ ६२ ॥

जातमित्यथ समीपवर्तिना नन्दिना सविनयं निवेदिते ।
सव्यपाणिविधुता जटाः पुनः शंकरः परिबबन्ध पन्नगैः ॥ ६३ ॥

अनन्तर 'कार्य हो गया' ऐसा विनीत नन्दी के निवेदन पर शंकर जी ने वाम हस्त प्रकम्पित जटा को सर्पों से बांध दिया ॥ ६३ ॥

कपर्दममरापगासलिलसेकसान्द्रीकृतं
विधुन्वति सविभ्रमं पशुपतौ विकीर्णास्ततः ।
क्वचित्सुरपुरंध्रयः क्वचन यक्षविद्याधराः
क्वचिच्च परमर्षयः समवलन्त संमूर्च्छिताः ॥ ६४ ॥

तदनन्दर सुरनदी जल से आर्दित शिर को विलासपूर्वक शिव जी के प्रकम्पित करने पर फैले हुये कहीं इन्द्र-पुरस्थ वृद्धायें, कहीं यक्ष-विद्याधर तथा कहीं बड़े-बड़े ऋषि मूर्च्छित हो गये ॥ ६४ ॥

यावद्व्योमविटङ्कसंकुलचलत्कल्लोलकोलाहलै-
रायाभीमवधारयन्दुहितरं प्राप्तस्तुषाराचलः ।
तावत्पीतसुरापगोदकपुन र्व्याधूतसंदानिताः
संमृष्टाश्च पटाञ्चलेन शिवया शंभोरपश्यज्जटाः ॥६५॥

आकाश में भेरी ध्वनि तरङ्गों के कोलाहल से अपनी पुत्री पार्वती को ले जाने के लिये जैसे ही हिमाचल उपस्थित हुये वैसे ही उन्होंने सुरनदी के जल को नियमित करने वाली शिव की जटाओं को देखा। तत्त्क्षण ही पार्वती ने उसमें अञ्चल पट लगा दिया ॥ ६५ ॥

अक्लिष्टपन्नगमजर्जरितेन्दुरेख-
मव्यस्तकाशकितवस्तबकावतंसम् ।
शंभोरदृश्यत शिरः सुरसिन्धुमुक्त-
दिव्यद्रुमप्रसवसौरभसारसान्द्रम् ॥ ६६ ॥

क्लेश रहित होने से स्वस्थ सर्प, मलिनता रहित होने से प्रकाशमान चन्द्रमा काश पुष्प एवं मन्दार से सुगन्धित शिव का शिर सुरनदी रहित सुगन्धित दिव्य वृक्ष की तरह दिखाई पड़ा ॥ ६६ ॥

प्रणमदमरग्रामप्रस्तूयमानमहास्तव-
स्तवकितगुहामूलाः कैलासशैलतटास्तदा ।
प्रशमितवियद्गङ्गाहंकारसंकथनादृत-
प्रमथपरिषच्छन्नाः किं नाम नादधतेऽद्भुतम् ॥६७॥

इस समय प्रणाम करते हुये देवताओं द्वारा प्रस्तुत महास्तोत्र से कैलास पर्वत तटानुवर्तिनी गुफायें व्याप्त हो गयीं। आकशगङ्गा का अहंकार शान्त हो गया। इस कथन से प्रमथगणों का सम्मान होने लगा। क्या इस गङ्गवतरण से बड़ा भी कोई आश्चर्यपूर्ण कोई कार्य हो सकता है ? अर्थात् नहीं।

इति श्रीनीलकण्ठदीक्षितप्रणीते गङ्गावतरणे
गङ्गावतारो नाम पञ्चमः सर्गः ॥५॥

षष्ठः सर्गः

ततो जटाभिर्गिरिशस्य पीते तावत्यपि स्रोतसि देवसिन्धोः ।
भगीरथोऽपि प्रमथैः सहैव विसिस्मिये प्रागथ विव्यथे च ॥ १ ॥

तदन्तर शिव जी की जटाओं द्वारा सुरनदी के सम्पूर्ण जल को पान करने पर प्रमथगणों के साथ पहले तो राजा भगीरथ आश्चर्य में पड़ गये पश्चात् दुखी भी नहीं हुये ॥ १ ॥

तुष्टो विरिञ्चिः प्रससाद शंभुर्लब्धा च गङ्गा फलितं किमेतैः ।
आराधनीयं वलयं जटानामज्ञासिषं येन न लेशतोऽपि ॥ २ ॥

ब्रह्मा जी सन्तुष्ट हुये, शिवजी प्रसन्न हो गये, गङ्गा भी मिल गयीं किन्तु इससे क्या परिणाम निकला ? जब कि स्वल्प मात्रा में भी मैं आराधना के योग्य शिव की जटाओं का परिज्ञान न कर सका ॥ २ ॥

संध्यासु दिष्ट्या यदि नृत्यतोऽस्य संशीर्य या कापि जटापतिष्यत् ।
कल्पान्तसंभेददुरुत्तरापि सप्तार्णवी क्वेव तदाभविष्यत् ॥ ३ ॥

भाग्यवश संध्या समय में शिवजी के नृत्य से निश्चित रूप में कोई जटा अवश्य ही शिथिल होगी और युगों तक चलने वाली कोई सप्तसमुद्रों की जलधारा अवश्य ही प्रवाहित होगी ॥ ३ ॥

आभाष्य गङ्गामवतार्य तामप्यासादिता येन न कार्यसिद्धिः ।
सोऽहं विलज्जः पुनरद्य तस्याः संजीवनायैव कथं यतिष्ये ॥ ४ ॥

गङ्गा को कहकर एवं उन्हें अवतरित करके भी जिसने कार्य की सफलता नहीं प्राप्त की इससे मैं लज्जित हो रहा हूँ । अब मैं पुनः उसे पृथ्वी पर अवतरण के लिये कैसे प्रयास करूँ । ४ ॥

निर्विद्य किंचिन्नृपतिस्तदैवं धैर्यं परं धारयति स्म भूयः ।
नायं गुणोऽस्य प्रकृतिर्यदेषा चुक्षोभ किंचिद्यदसौ स दोषः ॥५॥

इस प्रकार राजा भगीरथ कुछ उदासीन हो गये, किन्तु उन्होंने पुनः धैर्य धारण किया; क्योंकि उनका यह स्वभावजन्य गुण नहीं है, जो कुछ क्षुब्ध हो गये उनका यही दोष है ॥ ५ ॥

समानयेयं पुनरभ्रगङ्गां संपादयेयं यदि वापरां ताम्
तदस्ति किं यत्तपसामसाध्यमिति प्रपेदे पुनरिन्दुमौलिम् ॥ ६ ॥

मैं अपरा सिद्धि प्राप्त करके गङ्गा को पुनः पृथ्वी पर लाने का प्रयास करूँगा। ऐसा क्या है जो तपस्या से दुर्लभ हो। इस प्रकार ये राजा भगीरथ पुनः शिव की उपासना करने लगे ॥ ६ ॥

प्रसादयामास भगीरथस्तं वाग्भिः पुरेवात्वरितो महेशम्।
आद्यं विदुः साधनमर्थसिद्धेरसंभ्रमं कार्यविपर्ययेऽपि ॥ ७ ॥

राजा भगीरथ ने शीघ्र ही यथापूर्व स्तुति से महेश को प्रसन्न कर लिया, क्योंकि कार्य के अभाव में भी निश्चित रूप से उन्हें ही प्रयोजन सिद्धि का प्रथम साधन माना गया है ॥ ७ ॥

कल्पावसानेषु चतुर्दशापि जगन्ति यत्र त्वयि संविशन्ति।
तत्रैकवेधोगृहदीर्घिकेयं लीना वराकी यदि का स्तुतिस्ते ॥ ८ ॥

कल्पान्त में चौदह लोक जब आपके हृदय में निवास करते हैं तो यह सुरनदी जो ब्रह्मा के घर की दीर्घिका (बावली, झील) है इस बेचारी के वशीभूत होने से आप की क्या स्तुति हो सकती है ॥ ८ ॥

कियन्ति पीतानि विधेः कपालैः कियन्ति वेगादवनौ निपेतुः।
कियन्ति केशेष्वपि लिल्यिरे ते गङ्गोदकानीति कुतः स्मयस्ते ॥९॥

ब्रह्मा के अनेक शिरों से इसका कितना जलपान किया गया होगा, न जाने कितना जल पृथ्वी पर गिरा होगा यदि आपके बालों में अपरिमित गङ्गाजल है तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है ॥ ९ ॥

दिष्ट्या निपीता भवता नदीयं शक्त्या न तस्या स्त्वयि कः प्रसङ्गः।
शङ्खाम्बु दत्तं कियदेव भक्तैः सहस्रधारं ननु मन्यसे त्वम् ॥१०॥

आपने हमारे भाग्य से ही सुरनदी का पान किया एतदर्थं शक्ति का कोई प्रश्न ही नहीं, क्योंकि भक्तों के द्वारा प्रदत्त शङ्खजल को भी आप सहस्र धारा की तरह स्वीकार करते हैं ॥ १० ॥

सह्यानि चूडोरगफूत्कृतानि सह्याश्च गौरीचरणप्रहाराः।
तज्जानती नाथ जटापदे ते तस्थौ न गङ्गा स्वयमेव नूनम् ॥ ११ ॥

यदि शिरस्थ सर्पों का फूत्कार सह्य हो सकता है और पार्वती का पाद-प्रहार भी सह्य है तो हे नाथ, आप के क्षमाशील स्वभाव को जानती हुई गङ्गा आप की जटा में प्रविष्ट है। अपनी इच्छा से नहीं, ऐसा निश्चित है ॥११॥

आस्तां हिमाद्रौ श्वसुरेऽनुवृत्तिरास्तां च भक्ते मयि तेऽनुकम्पा।
चण्डी न दृश्या भगिनीवियोगशङ्काकुला किं ग्रसताभ्रगङ्गाम् ॥१२॥

श्वसुर हिमालय में अनुवृत्ति और मुझ भक्त में आपकी अनुकम्पा हो।

सुरनदी को मुक्त करें जिससे पार्वती को भगिनी (गङ्गा) के वियोग की शङ्का से व्याकुल न होना पड़े ॥ १२ ॥

अस्त्वेवमासीद्यदि ते कपर्दिन्गर्भो जगद्भिस्त्रिभिरप्यपूर्णः ।
मूर्ध्नापि किं ते भवितव्यमेव गङ्गापि यस्य स्नपनाय नालम् ॥ १३ ॥

जिसका हृदय तीन लोकों के समावेश से भी अपूर्ण रहता है। हे कपर्दिन्, क्या सुरनदी आप के मस्तकाभिषेक में पर्याप्त हो सकती है, स्नान की तो कोई बात ही नहीं है ॥ १३ ॥

अभ्यर्थये त्वामथवा न गङ्गां कस्त्वं गृहीतुं पुनरुज्झितुं वा ।
स्तोष्यामि ता एव जटास्त्वदीया याभिर्निपीता कणवन्नदी सा ॥१४॥

गङ्गा को ग्रहण या मुक्त करने के लिये आप कौन होते हैं अत एव मैं आप की उन्हीं जटाओं की स्तुति करूँगा जिनके द्वारा वह सुरनदी पूर्ण रूप से पान की गयी ॥ १४ ॥

जटा नमो वश्चिरसंप्ररूढां रुद्ध्वा पिपासामियतीं स्थिताभिः ।
युष्माभिरालिह्यत नान्तिकेऽपि दिष्ट्या पयोमण्डनिभोऽयमिन्दुः ॥१५॥

चिरकाल प्रवर्धित प्यास को रोककर तुम्हारे स्थित होने से समीपस्थ यह जल मेढक की तरह चन्द्रमा नहीं अवरुद्ध हुआ, यह भाग्य की बात है। हे जटाओं, तुन्हें नमस्कार है ॥ १५ ॥

जटा ललाटानलतापितानां पानोदकं किं नु वियन्नदी वः ।
यच्च न्यगीर्यन्त पदेपदेऽपि पयांसि तस्याः स किमूपदंशः ॥१६ ॥

हे जटाओं, शिव मस्तकाग्नि से सन्तप्त होनेवाली आप के लिये यह आकाशगङ्गा क्या पानोदक (पीने के लिये जल) नहीं है। जिसके पग-पग में जल गिर रहा हो उसका प्यासा होना कैसे सम्भव है ॥ १६ ॥

पीतं पयो बह्विति मा बिभीत भविष्यथ स्वस्थतराः पुरेव ।
चण्डीशमत्तभ्रमणेन यूयं सद्यः समुद्वान्तजला दिनान्ते ॥ १७ ॥

अपने बहुत जल पी लिया इससे भयभीत न हों, सायंकाल भगवान् शिव के प्रमत्त ताण्डव नृत्य से तत्क्षण ही आप सभी जलभार से मुक्त होकर पहले की भाँति स्वस्थ हो जायेंगी ॥ १७ ॥

भक्तार्पिताभिः कियतीभिरद्भिः कालो महान्येन कपर्द नीतः ।
स त्वं समासाद्य च तावदम्बु भूयोऽपि किं प्रागिव भिक्षुकोऽभूः ॥१८॥

हे कपर्दिन्, भक्तों के समर्पित कितने ही जलाभिषेकों से जिसने बहुत बड़ा

समय व्यतीत किया है ऐसे आप जल एकत्रित करके क्या पुनः पहले की तरह भिक्षुक होना चाहते हैं ॥ १८ ॥

इत्थं चमत्कारतरङ्गिताभिस्तुतोष तस्य स्तुतिभिर्महेशः ।
साहित्यमर्मावगमे क्षमेत सर्वज्ञमीशं तमृते परः कः ॥ १९ ॥

इस प्रकार राजा भगीरथ की चमत्कारपूर्ण स्तुतियों से महेश प्रसन्न हो गये । साहित्य के तात्विक परिज्ञान में सर्वज्ञ भगवान् शंकर के अतिरिक्त कौन समर्थ हो सकता है ? ॥ १९ ॥

मोक्तुं नदीमानमनानभिज्ञं मूर्धानमीशो नमयांबभूव ।
भक्तैकरक्षाव्रतदीक्षितानां दूरे स्वमानद्रढिमाभिमानः ॥ २० ॥

तदन्तर भगवान् शिव ने कभी न झुकने वाले अपने मस्तक को नदी मोक्ष के लिये झुका ही दिया, मात्र भक्तों की रक्षा का व्रत धारण करने वाले अपने स्वाभिमान को महत्त्व नहीं देते ॥ २० ॥

ये सुश्रुवुर्गर्वकिरो गिरः स्वास्तेष्वेव पश्यत्सु सुधाशनेषु ।
ह्रीणेव निर्गन्तुमवाङ्मुखी सा ततोऽपतद्बिन्दुसरस्युदारे ॥२१॥

जिन्होंने कभी गङ्गा की गर्वोक्तियों को सुना था उन्हीं देवताओं के द्वारा देखने से लज्जित होने पर नीचे मुख किये वह सुरनदी उदारता की प्रतिमूर्ति रूप में निकल पड़ी ॥ २१ ॥

तान्येव यादांसि महाद्भुतानि ता एव पर्याप्तदिशो लहर्यः ।
पेतुः कपर्दात्पुनरिन्दुमौले गर्वोक्तयस्ताः क गता न विद्मः ॥२२॥

आश्चर्यशाली जल समूह के साथ दिशाओं में व्याप्त होने के लिये गङ्गा की लहरें चन्द्रशेखर की मौलि से निकलने लगीं । उनकी पूर्व गर्वोक्तियाँ कहाँ चली गयीं, हमें इसका परिज्ञान नहीं हो सका ॥ २२ ॥

तामापतन्तीमवनौ कपर्दात्कश्चितादीषदिवेन्दुमौलेः ।
दूरादमन्यन्त विलम्बमानां मालामिव द्रोणमयीममर्त्याः ॥२३॥

चन्द्रशेखर की स्वल्प शिथिलित जटा से पृथ्वी पर गिरती हुई सुरनदी को देवगणों ने दूर से चार सौ बाँस लम्बा माला की तरह विस्तृत रूप में देखा ॥ २३ ॥

सा तत्र सिन्धु सरसि क्षरन्ती स्रोतांसि सप्त स्वयमाबभार ।
त्रिभिः प्रतीचींदिशमाववार त्रिभिश्च सा तैर्दिशमिन्द्रगुप्ताम् ॥ २४ ॥

बहती हुई सुरनदी ने स्वयं सात जल स्रोतों को धारण किया । जिनमें तीन स्रोत पश्चिम में और तीन स्रोत पूर्व दिशा में फैल गये ॥ २४ ॥

आमन्त्र्य मूर्ध्ना प्रणतेन शंभुमारुह्य च स्यन्दनमग्रतस्तम् ।
सं प्रस्थितं पार्थिवमन्वयासीत्स्रोतः पयं कीर्तिरिवास्य मूर्ता ॥ २५ ॥

नत मस्तक शंभु को स्मरण कर रथारुढ़ होने वाले राजा भगीरथ की साक्षात् कीर्ति के समान गङ्गा के स्रोत ने उनका अनुसरण किया ॥ २५ ॥

गङ्गोर्मिभिर्मन्दमनुप्रवृत्तैर्गच्छन्पुरस्तादथ तच्छताङ्गः ।
आकृष्यमाणाच्छोलश्रृङ्खलस्य गन्धद्विपस्यापजहार शोभाम् ॥२६॥

अनन्तर अग्रगामी उनके रथ ने गङ्गातरङ्गों से अनुसरित होकर स्वच्छ श्रृंखला को खींचते हुये चलने वाले मदमत्त हाथी की शोभा को तिरस्कृत कर दिया ॥ २६ ॥

क्वचित्पतन्ती क्वचिदुत्पतन्ती क्वचिच्च यान्ती चिरमुत्पथेन ।
सा तत्र चण्डीशजटावनान्ते संभ्रम्य दिङ्मोहवतीव रेजे ॥ २७ ॥

नतोन्नत मार्ग में लुढ़कती हुई चलने वाली सुरनदी शिवजटा रूपी वन में भ्रमण करने से भ्रमित बुद्धि (पक्ष में गोलाकार भँवरें) होने से दिक्शून्यता को धारण करती हुई सुशोभित हुई ॥ २७ ॥

पादे पतन्ती परितः स्पृशन्ती गात्राणि पर्यङ्कतले लुठन्ती ।
कालाब्दहोरुत्कलिकावतीव कामं गुरोः सा विजहार पार्श्वे ॥२८॥

पैर पर गिरती और चारों तरफ से अङ्गों का स्पर्श करती हुई अत्यधिक समय से अविकसित कलिका की तरह गोद में लुढ़कती हुई सुरनदी ने शिव के समीप यथेष्ठ विहार किया ॥ २८ ॥

दृष्टानि कौमारविहारकाले दृश्यानि नीहारगिरेस्तटानि ।
द्रष्टुं चिरात्कौतुकशालिनीव सा सर्वतस्तत्र समारुरोह ॥ २९ ॥

कुमारावस्था में विहार योग्य दिखने वाले हिमालय तटवर्ती दृश्यों को बहुत समय से हृदय में कुतूहल धारण करने वाली वह सुरनदी सर्वत्र आरूढ़ हुई ॥ २९ ॥

ग्रस्तोदकायां मयि शंकरेण किं नाम मह्यं कृतवानसि त्वम् ।
नाहं सुता ते न गुरुर्ममत्वमिति क्रुधेवाथ जहौ हिमाद्रिम् ॥ ३० ॥

शिव ने जब मुझे ग्रसित कर लिया तब आपने मेरे लिये क्या किया अतः मैं आप की पुत्री नहीं हूँ और आप मेरे पिता नहीं हैं इस प्रकार मानों क्रोध से सुरनदी ने हिमालय का परित्याग कर दिया ॥ ३० ॥

अथाद्रिश्रृङ्गादवतीर्यभूमौ सा तत्र मन्दं सरिदुच्चलन्ती ।
आरब्धयज्ञस्य जगाम जह्नोरभ्यर्णमालोकितुमादृतेव ॥ ३१ ॥

अनन्तर वह सुरनदी पर्वतीय चोटी से उतर कर पृथ्वी पर धीरे-धीरे चलती हुई यज्ञ करने वाले जह्नु ऋषि के दर्शनार्थ आदर पूर्वक उनके समीप गयी ॥ ३१ ॥

मौलौ निवासादमृतांशुमौलेर्दक्षाध्वरध्वंसदृढव्रतस्य ।
संक्रान्ततद्रीतिरिवाभ्रगङ्गा जह्नोरवध्वंसयति स्म यज्ञम् ॥ ३२ ॥

दक्ष यज्ञ-विध्वंस के दृढ़व्रती चन्द्रशेखर के मस्तक पर निवास करने से मानों उनके विचारों से प्रभावित होकर सुरनदी ने जह्नु के यज्ञ को नष्ट कर दिया ॥ ३२ ॥

मदूर्मिवेगापहृताः सुराश्च कियत्कियद्यत्र हविर्लभन्ते ।
किं तत्र नार्हं ग्रसितुं ममेति जग्राह सर्वं हविरभ्रगङ्गा ॥ ३३ ॥

मेरी तरङ्गों के बेग से लाये हुये देवता कितनी मात्रा में हविद्रव्य प्राप्त करते हैं क्या मैं उस हवि के योग्य नहीं हूँ । मानों, ऐसी ही विचार कर सुरनदी ने सम्पूर्ण हवि को ग्रहण कर लिया ॥ ३३ ॥

एतावदायस्यसि किं वृथैव जह्नो सकृन्मज्ज जले मदीये ।
स्वर्गं च याहीत्यनुगृह्णतीव तं मज्जयामास तरङ्गिणी सा ॥३४॥

'हे जह्नु, व्यर्थ प्रयास मत करो, एक बार मेरे जल में डूब जाओ और स्वर्ग के लिये प्रस्थान करो' इस प्रकार मानों आग्रह करती हुई सुरनदी ने उन्हें डुबो दिया ॥ ३४ ॥

सुराः पुरोडाशचरुप्रभु वाज्यस्वीकारसातत्यगतक्षुधोऽपि ।
उदन्यया केवलमर्दिताः किमाकर्णमम्भः पपुरभ्रसिन्धोः ॥ ३५ ॥

दुग्ध परिपक्व चावल (खीर) एवं हव्य-कव्यादि पदार्थों के ग्रहण से निरन्तर क्षुधा रहित होने से क्या सुरनदी के जल को उन्होंने आकण्ठ पान किया ? अर्थात् वे भी उस समय नदी के प्रवाह में आ गये ॥ ३५ ॥

पुरा पतन्ती मुकुटे पुरारेर्लेभे फलं या किल दुर्विनीतेः ।
भूयोऽपि सैवापचकार जह्नोः कुतः प्रकृत्या कुटिलोपशाम्येत् ॥३६॥

जिस दुर्विनय का फल इसके पूर्व शिव की जटा में गिरती हुई सुरनदी ने प्राप्त किया था वही फल उसने पुनः जह्नु ऋषि से प्राप्त किया; क्योंकि स्वभाव से कुटिल को शान्ति कहाँ मिल सकती है ॥ ३६ ॥

यामापतन्तीं महता रयेण संरभ्य तावज्जगृहे महेशः ।
तां लीलयैवापिबति स्म जह्नु स्ततोऽप्युदग्रा ननु तं प्रपन्नाः ॥३७॥

तीव्र वेग से गिरने वाली जिस सुरनदी को हठात् महेश ने अवरुद्ध किया था उसे अनायास ही जह्नु ने पी लिया ऐसी स्थिति में सुरनदी की स्थिति और भी भयंकर हो गयी ॥ ३७ ।

कायं मुनिः क्षत्रकुलप्रसूतः क्व सा नदी शंभुजटैकधार्या ।
ग्रस्तामुना सैव यदि क्षणेन केनाधिगम्यस्तपसां प्रभावः ॥ ३८ ॥

कहाँ क्षत्रियवंशी जह्नु ऋषि और कहाँ शंभु जटा मात्र में धारण की गयी वह सुरनदी ? यदि वही इस मुनि के द्वारा क्षण मात्र में ग्रसित हो गयी तो इसमें आश्चर्य क्या ? क्योंकि तपस्या के प्रभाव को कोई नहीं जान सकता ॥ ३८ ॥

राजर्षिरेको विचकर्ष गङ्गामन्यः पुनस्तां कवलीचकार ।
ब्रह्मर्षिभिर्धिग्धिगितः परं वा संन्यस्यतां किं नु तपोभिमानः ॥३९॥

एक राजर्षि (भगीरथ) ने गङ्गावतरण किया दूसरा (जह्नु) राजर्षि उसे पी गया । इनके अतिरिक्त ब्रह्मर्षियों को धिक्कार है वे कैसे तपस्या के अभिमान को छोड़ सकते हैं ॥ ३९ ॥

जातैव नीता विबुधैरियं द्यां शप्ता निरुद्धापि च वेधसा स्याम् (?) ।
ग्रस्ता शिवेनाप्यथ जह्नुना च कस्मिन्क्षणेऽजायत न प्रतीमः ॥ ४० ॥

उत्पन्न होते ही सुरनदी को देवगण स्वर्ग ले गये पश्चात् निरुद्ध होने पर ब्रह्मा जी से अभिशप्त हुई अनन्तर शिव और जह्नु ने भी सुरनदी को ग्रसित किया अब पुनः उसका कब प्राकट्य होगा इसका परिज्ञान किसी को नहीं है ॥ ४० ॥

कन्या तवेयं भवितेति देवैर्याचे मुने त्वामिति तेन चोक्तम् ।
जह्नुर्जहौ कर्णपुटेन गङ्गां कर्णाद्दते यच्छतु काङ्क्षितं कः ॥ ४१ ॥

हे मुने, यह सुरनदी आप की पुत्री होगी इसकी मुक्ति हेतु हम आप से याचना करते हैं । इस प्रकार देवता और भगीरथ के कहने पर जह्नु ऋषि ने सुरनदी को मुक्त कर दिया बिना श्रवण के कौन अभीष्ट प्रदान करेगा ? ॥४१॥

रुद्धा चिरं यच्छ्रुतिसेतुमध्ये बद्धा चिरं यच्च जटासु शंभोः ।
सा निर्ययौ वासनया तयैव विश्रृङ्खलं कर्णपुटान्महर्षेः ॥ ४२ ॥

ब्रह्मा जी के वैदिक नियमों में चिर समय तक अवरुद्ध एवं शिव की जटा में यथा समय रहने के बाद सुरनदी उसी वासना के साथ महर्षि जह्नु के कर्ण मार्ग से लुढ़कती हुई निकल पड़ी ॥ ४२ ॥

तां जह्नुकोपाद्व्यसनं प्रपन्नां कालाद्बहोः क्षोणितलेऽवतीर्णाम् ।
नद्योऽनुरक्ता इव तत्र तत्र तरङ्गहस्तैर्दृढमालिलिङ्गुः ॥ ४३ ॥

अत्यधिक समय तक जह्नु ऋषि के कोप से विकृति जन्य व्यसन को प्राप्त होकर पृथ्वी पर उतरने वाली सुरनदी का अनुरागिणी नदियों ने तरङ्गरूपी हाथों से आलिङ्गन किया ॥ ४३ ॥

गच्छन्पुरस्तस्य रथो यथेच्छं गङ्गा च पश्चात्तमनुव्रजन्ती ।
प्रायेण धाटीग्रहणप्रसक्तौ बालावुभौ केलिपराविवास्ताम् ॥४४॥

आगे-आगे भगीरथ का स्वच्छन्द गामी रथ चल रहा था और गङ्गा उसके पीछे-पीछे चल रही थी। उस समय ऐसा लग रहा था मानों क्रीडारत दो बालक आपस में लड़ने लगे हों ॥ ४४ ॥

प्रवर्तते पावयितुं प्रदेशं यं यं नदी सा पुर एव तस्याः ।
तं तं पुनन्तः स्वयमूर्मिवातास्तस्यै ददुर्नावसरं कदाचित् ॥ ४५ ॥

वह सुरनदी जिस-जिस देश को पवित्र करने का प्रयास कर रही थी उसके आगे-आगे चलने वाला तरङ्गित वायु स्वयं उस प्रदेश को पवित्र करता हुआ नदी को अवसर ही नहीं देता था ॥ ४५ ॥

भिन्दन्तमद्रीन्सरसीर्विशन्तं व्यापाटयन्तं च वनान्तराणि ।
प्रवाहमस्या नयति स्म यत्नाद्भगीरथो मत्तमिव द्विपेन्द्रम् ॥४६ ॥

पर्वतों को तोड़ता हुआ, सरोवरों में प्रवेश करता हुआ और वनवृक्षों को गिराता हुआ सुरनदी के प्रवाह को राजा भगीरथ मदमत्त हाथी की तरह प्रयत्न पूर्वक ले गये ॥ ४६ ॥

अन्योन्यसंभेदसमुच्छ्रितासु कल्लोलरेखासु कदाचिदस्याः ।
भूयः स्वलोकाक्रमसाध्वसेन दूरे सुरा दुद्रुवुरन्तरिक्षे ॥ ४७ ॥

सुरनदी की तरङ्गें कहीं-कहीं आपसी टकराहट से कल्लोल करती हुई ऊपर उठ जाती थीं उस समय देवतागण पुनः उनके स्वर्ग के लिये जाने के भय से आकाश में दूर तक भागने लगे ॥ ४७ ॥

स्वर्गादमर्त्यानवरोपयन्ती स्वच्छन्दतादुर्ललितैस्तरङ्गैः ।
मर्त्यानपि स्वाम्भसि मग्नमात्रान्दिवं नयन्ती विजहार गङ्गा ॥ ४८ ॥

स्वच्छन्दता पूर्ण अपनी भयंकर तरङ्गों से स्वर्ग को मृत्युलोक से मानों जोड़ती हुई और जल में निमज्जित मर्त्यों को आकाश में ले जाती हुई वह सुरनदी निकल पड़ी ॥ ४८ ॥

विन्ध्यो गिरिः कुम्भजकोपभीतो गङ्गा च जह्नुग्लपितावलेपा।
शङ्के समानव्यसनाविवेमौ समीयतुर्द्वौ सविधेऽथ काश्याः ॥४९॥

अगस्त्य ऋषि के कोप से भयभीत विन्ध्याचल और गङ्गा के अहंकार को नष्ट करने वाले जह्नु ऋषि, ये दोनों विन्ध्याचल और गङ्गा को संत्रस्त करने वाले समान व्यसनी होने से ही काशी की समीपता को प्राप्त हुये मुझे ऐसी आशङ्का है ॥ ४९ ॥

भक्त्या परित्यज्य गतिं सगर्वां भक्तं पुरस्कृत्य भगीरथं च।
विवेश विश्वेशितुरन्तिकं सा जानाति येनास्य जटाप्रभावम् ॥५०॥

भक्ति से अहंकारिणी गति का परित्याग और राजा भगीरथ को पुरस्कृत करके वह सुरनदी विश्वेवर शिव के समीप गयी क्योंकि वह उनके जटा प्रभाव से परिचित हो चुकी है ॥ ५० ॥

त्यक्तावशिष्टं कियदम्बु गाङ्गं सारुप्यभाजां कतमेन लभ्यम्।
इत्थं सचिन्ते सति विश्वनाथे काशीमयासीदियमिङ्गितज्ञा ॥ ५१ ॥

इस परित्यक्तावशिष्ट जल को कितने लोग ग्रहण कर सकेंगे इस प्रकार विश्वनाथ शिव के चिन्तित होने पर इशारों को जानने वाली सुरनदी काशी में उपस्थित हुई ॥ ५१ ॥

त्रय्यन्त सिद्धाञ्जननिर्मलाक्षैस्तपोधनैरप्यनवेक्षितं यत्।
आलक्ष्यते धाम तदेव यस्यामात्यन्तिकेनाक्षिनिमीलनेन ॥५२॥

जो काशी धाम वैदिक सिद्धता रूपी अञ्जन से निर्मल नेत्र वाले तपोनिधियों के लिये भी अगोचर रहा है। वही अब नेत्रों के पूर्ण निमीलन (बन्द करना) से भी अभिलक्षित होने लगा ॥ ५२ ॥

यामभ्युपेताः परमा समृद्ध्या भिक्षाशिनो दिग्वसना भवन्ति।
यामावसन्तो भवबन्धमुक्त्यै देहार्ध एवाकलयन्ति दारान् ॥५३॥

जिस काशी को प्राप्तकर परा समृद्धि से दिगम्बर योगी भिक्षावृत्ति धारण करते हैं। जिस काशी में रहते हुये लोग सर्वपत्नीक रूप में संसारी बन्धन से मुक्ति के लिये निवास करते हैं। (क्योंकि यहाँ भगवान् शिव स्वयं अर्धनारीश्वर माने जाते हैं) ॥ ५३ ॥

भस्माङ्गरागाः शिरसः कपालं पात्राय माल्याय च जालमस्थ्नाम्।
जना यदीयाः पुनराददानास्तनुं त्यजन्तीव न तु त्यजन्ति ॥ ५४ ॥

इस काशी में भस्मलिप्त शरीर धारी सिर की खोपड़ी को पात्र और माला दोनों के लिये ग्रहण करते हैं ऐसे लोग भौतिक शरीर के प्रति ममत्व के

अभाव से शरीर का परित्याग न करते हुये भी उसे छोड़े हुये की तरह रहते हैं ॥ ५४ ॥

आतन्वतीमुज्झिततारतम्यमाब्रह्मकीटं जगदेकरूपम् ।
यामप्रबुद्धा इव पण्डिताश्च श्रेयः किमासादयितुं श्रयन्ते ॥ ५५ ॥

प्रपञ्च रहित विश्वरचना को एकरूपता के साथ विस्तृत करने वाली जिस काशी को पण्डित भी मूर्ख की तरह कल्याण प्राप्त करने की कामना से प्राप्त करते हैं। अर्थात् जो मोक्ष पण्डितों को बड़ी कठिनाई से अध्ययन के बाद मिलता है यहाँ काशी में वही मोक्ष मूर्ख के लिये भी सुलभ है ॥ ५५ ॥

सारूप्यभाजो बहवोऽत्र शंभोश्चत्वारि वक्त्राणि पुनर्विधातुः ।
एकेन चैकं लवितव्यमित्यं प्राप्ते गतिः केति भणन्ति यस्याम् ॥५६॥

काशी में शिवानुयायी लोगों का विचार है कि यदि ब्रह्मा के एक एक सिर क्रमशः कटते जाँय जो क्या स्थिति होगी ? अर्थात् ब्रह्मा की अनुपस्थिति में लोकयात्रा नष्ट हो जायेगी ॥ ५६ ॥

प्राङ्मज्जयन्ती सलिलावलेवात्प्राप्तं पुरो यं कमपि द्युसिन्धुः ।
तस्मिन्महेशे पुनन्वगेव यस्यां परित्रस्यति तज्जटाभ्यः ॥ ५७ ॥

जलाभिमान से पहले वह सुरनदी आगे आने वाले जिस किसी को भी जल में निमज्जित कर देती थी किन्तु काशी नगरी में शिव जी के वशीभूत होकर उनकी जटाओं से भयभीत रहने लगी ॥ ५७ ॥

पठन्ति यस्यामथ पाठयन्ति प्राज्ञाः शतं निर्मिमिते कृतीश्च ।
अस्थीन्यपूतान्यहयो न धार्या भोज्यं विषं नेति तु नावयन्ति ॥५८॥

जिस काशी में विद्वान् लोग पढ़ते-पढ़ाते हुए सैकड़ों कृतियों का निर्माण करते हैं किन्तु अपवित्र अस्थियाँ एवं सर्प को नहीं धारण करना चाहिए तथा विष भोज्य नहीं होता इसका उन्हें परिज्ञान नहीं होता अर्थात् उनमें विचित्र सहन शीलता और विवेक सर्वज्ञ रहता है ॥ ५८ ॥

आसाद्य यत्राक्षरमेकमीशात्प्राणैर्विमुच्यार्धपथं प्रपञ्चैः ।
सहे नराश्चेत्पशुपक्षिणोऽपि[1] सर्वभूता स्म इति स्मयन्ते ॥५९॥

जिस काशी नगरी में प्राणों से अधूरे मार्ग को छोड़कर ईश्वर से एकाक्षर प्रणव ॐ को प्राप्त कर मनुष्य की क्या बात, पशुपक्षी भी अपनी सद्गति से अपने में ही सर्वव्यापी ईश्वर का अनुभव होने से आश्चर्य चकित रहते हैं ॥ ५९ ॥

---

१. यां सर्व भूतास्म इति स्मयन्ते (अनुवाद के अनुसार)।

सा तत्र सिन्धुर्विशती प्रसन्ना सेव प्रसनाश्च गिरः कवीनाम् ।
गभीरता स्वादिमवेगमूलां स्पर्धामवध्नन्नितरेतरेण ॥ ६० ॥

काशी नगरी में प्रवेश करते ही वह सुरनदी कवियों की स्वच्छ वाणी की तरह निर्मल हो गयी। जैसे वाणी गंभीरता आस्वादनार्थ वेग रहित परस्पर स्पर्धा रूप में कवियों की वाणी होती है उसी प्रकार सुरनदी में भी जल की स्थिरता से गम्भीरता आदि गुण आ गये ॥ ६० ॥

मय्यागतायामपि मुक्तिदायां तीर्थैः किमेभिः किमथापि लिङ्गैः ।
इतीव काश्यामुभयानि तानि सा मज्जयन्ती शतशो व्यचारीत् ॥६१॥

मुझ मुक्तिदायिनी के यहाँ आने पर इन तीर्थों और शिवलिङ्गों की क्या आवश्यकता ? मानों, इसी विचार से वह सुरनदी काशी के उभयवर्ती तटों को डुबोती हुई विचरने लगी ॥ ६१ ॥

अम्भोभरैराश्रममण्डलानि संप्लावन्यती शतसो मुनीनाम् ।
प्रायेण तत्पापजिहासयेव ममज्ज गङ्गा मणिकर्णिकायाम् ॥ ६२ ॥

अपने पवित्र जल से मुनियों के आश्रम को अनेकशः डुबोती हुई वह सुरनदी मानों पाप विनाश के लिये ही मणिकर्णिका में विशेष रूप से बहने लगी ॥ ६२ ॥

आपाततः स्वाद्विव तत्त्वतस्तु क्रूरादपि क्रूरतरं यदम्भः ।
पीते कणेऽप्यस्य शरीरिणो यत्पिबन्ति हालाहलमप्ययत्नम् ॥६३॥

काशी में स्वभावतः और परमार्थ रूप में गंगा का जल अत्यधिक मधुर (कोमल भी) तो है ही किन्तु यह अत्यधिक कठोर भी है क्योंकि इसका (जल का) पान करने पर लोग बिना किसी प्रयास के हालाहल (विष) का भी पान कर सकते हैं। अर्थात् अमृत पर विष का प्रभाव नहीं पड़ता ॥ ६३ ॥

ऐश्वर्यलोभात्स्वमुपागतानां कर्णजपकिंचन देहभाजाम् ।
यः कोऽपि यस्यां कितवावतंसो भिक्षा कपालानि करेषु दत्ते ॥६४॥

जिस काशी नगरी में ऐश्वर्य प्रलोभी लोगों के कान में कुछ कहते हुये कोई महाकपटी (शिव) उनके हाथों में भिक्षा पात्र रख देता है। अर्थात् यहाँ आने वालों का भौतिक मोह नष्ट हो जाता है ॥ ६४ ॥

भर्तुं स्वमेकं वपुरप्यशक्त्या प्रायः स्वतीराश्रयिणां जनानाम् !
शिष्येषु विन्यस्यति या त्रिलोकसृष्टि-स्थिति-ध्वंसमहाधिकारम् ॥६५॥

अपने एक शरीर का पालन भी जिनके लिये कठिन है ऐसे लोग जब यहाँ गंगा तट का आश्रय ग्रहण करते हैं तो उन्हें अनायास ही तीन लोकों की

रचना, पालन और संहार का सबसे बड़ा अधिकार मिल जाता है अर्थात् यहाँ आने वाले का अभीष्ट अवश्य ही सिद्ध होता है ॥ ६५ ॥

एकैकमस्याश्चुलुकं वहेयुरेते यदि केव भवेद्द्युसिन्धुः ।
इति क्षितीशो बिभयांबभूव पश्यन्प्रजास्तत्र महेशरूपाः ॥ ६६ ॥

यदि ये काशीवासी एक एक चुल्लु जल ग्रहण करेंगे तो सुरनदी की क्या स्थिति होगी ? महेश रूपी प्रजा को देखते हुये राजा भगीरथ भयभीत हो गये ॥ ६६ ॥

ग्रस्ता जटाभिः प्रथमं पुरारेर्ग्रस्ता ततो या चुलुकेन जह्नोः ।
ब्रह्मर्षिभिः सात्र पपे दृशैव भग्नः सकृद्भज्यत एव भूयः ॥ ६७ ॥

सर्व प्रथम सुरनदी शिव की जटाओं से ग्रसित हुईं पश्चात् जह्नु मुनि ने चुल्लु से उन्हें पी लिया अब वह नदी ब्रह्मर्षियों के द्वारा दृष्टि से पान की जा रही है । एक बार टूट गया वह आगे भी टूटता ही जाता है । (विचित्र गति है) ॥ ६७ ॥

सा वेगादथ मणिकर्णिकाजलान्तःसंपातप्रतिहतिसंभवैर्द्युसिन्धुः ।
व्याकीर्णैर्नवकुसुमैरिवाम्बुलेशैर्विश्वेशं विनयपरिष्कृता ववन्दे ॥ ६८ ॥

मणिमर्णिका जल के अन्दर गिरने से जिसका वेग मन्द हो गया है तथा नवीन पुष्प की तरह फैले हुये फेनिल जलकणों से विनय युक्त होकर वह सुरनदी विश्वेश्वर महेश की वन्दना करने लगी ॥ ६८ ॥

स्वच्छन्द प्रचरद्भगीरथरथक्रेंकारधाराश्रव-
प्रत्युद्यन्मुनिलोकलोचनपुटीनिर्वेदसर्वंकषैः
स्रोतोभिर्घनसारसान्द्रशिशिरैः स्वर्लोककल्लोलिनी ।
तामालिम्पदिवेन्दुचूडनयनज्वालाजटालां पुरीम् ॥ ६९ ॥

स्वच्छन्दगामी भगीरथ रथानुवर्तिनी सुरनदी के प्रपातध्वनि से अभ्युदित मुनियों के नेत्रों से दर्शनीय तटों में प्रवाहित कपूर की तरह स्वच्छातिस्वच्छ सुशीतल जल कणों वाले स्रोतों से उस सुरनदी ने चन्द्रशेखर की मस्तकाग्नि से प्रकाशित काशी नगरी को मानो शुभ्रता से प्रलिप्त कर दिया । अर्थात् गङ्गा से काशी का और भी महत्व बढ़ गया ॥ ६९ ॥

इति श्रीनीलकण्ठदीक्षितप्रणीते गङ्गावतरणे
काशीप्रवेशो नाम षष्ठः सर्गः

सप्तमः सर्गः

अथ सन्निहितं भगीरथं सरितं तामपि तद्रथानुगाम् ।
अवलोकितुमिच्छतां नृणामतुलस्तत्र बभूव संभ्रमः ॥ १ ॥

तदनन्तर अग्रगामी राजा भगीरथ और उनके रथ के पीछे-पीछे चलने वाली उस सुरनदी को देखने की इच्छा रखनेवाले लोगों में एक अलौकिक आश्चर्य हुआ ॥ १ ॥

अगृहीतविवेकमापणानुपसंहृत्य सवेगमेकतः ।
पथिकान्वणिजोऽन्वयुञ्जत क नु सा सिन्धुरिति प्रतिक्षणम् ॥२॥

कहीं पर व्यापार करने वाले वणिक गण वेग से ग्राहकों को समीप बुलाकर घबड़ाहट से विवेक रहित होकर वह सुरनदी कहाँ तक आ गयी ऐसा प्रतिक्षण पूछते हैं ॥ २ ॥

स्थविरेषु गतेषु जाह्नवीसलिलोत्पीडभिया ततस्ततः ।
क्षणमध्ययनोपघाततः परितुष्टा बटवो विजह्रिरे ॥ ३ ॥

जाह्नवी के फैलते हुये जल के भय से वृद्धों के चले जाने के बाद क्षणमात्र के लिए अध्ययन में विराम होने से सन्तुष्ट बच्चे हर्षित हो गये ॥ ३ ॥

प्रलयेष्वपि ये न शिक्षिताश्चिरमानन्दवनीनिवासतः ।
मुनयः किल ते चिरायुषः सुरसिन्धूर्मिषु विस्मयं दधुः ॥ ४ ॥

परम तत्त्व की उपलब्धि से अशिक्षित वे चिरजीवी मुनिगण प्रलय कालिक-सुरनदी की तरङ्गों में आश्चर्य का अनुभव किया । अर्थात् ऊँची-ऊँची तरङ्गों को देखकर उन्हें ऐसा लगा कि प्रलय काल सामने उपस्थित हो रहा है ॥ ४ ॥

चरमं ववृषे भगीरथः शिशिरैरत्र नदीपयः कणैः ।
पुरतस्तु तदा पदे पदे पुरयोषित्करलाजमुष्टिभिः ॥ ५ ॥

इस काशी में नदी के सुशीतल कणों से राजा भगीरथ ने वृष्टि की जब कि उनके आगे आगे नागरिकाओं ने उनके स्वागतार्थ लाजावर्षण किया ॥५॥

पथि दिव्यनदीभगीरथौ प्रचलन्तौ शनकैः सविभ्रमम् ।
अवलोक्य शिरोगृहस्थिता हरिणाक्ष्यो विदधुर्मिथः कथा ॥६॥

मार्ग में चलने वाली सुरनदी और भगीरथ को देखकर अट्टालिकाओं पर स्थित हरिणनेत्रियों ने परस्पर कथाओं का कथनोपकथन किया ॥ ६ ॥

स्खलनात्क्वचिदुन्नते पथि स्तिमितं पश्य रथं क्षिपन्त्यमी ।
रभसाहतचक्रमण्डला रथदण्डा इव जह्नुजोर्मयः ॥ ७ ॥

कहीं उन्नत मार्ग पर स्खलित होने से रथ के ले जाने पर तीव्रगति से चक्र मण्डल को आहत करने वाली जाह्नवी की तरङ्गें रथ के दण्ड की तरह पीछे से उसे आगे चलने के लिये सहयोग दे रही हैं इसे देखो ॥ ७ ॥

पतितामिह कर्णिकां चिरात्प्रतिलभ्यार्पयितुं महेशितुः ।
किमियं मणिकर्णिकासरस्यवगाढा सरिदारसातलम् ॥ ८ ॥

इस काशी में गिरकर बहुत समय से गायब हुये शिव के कर्णाभूषण को उपलब्ध कराने के लिए कहकर क्या यह सुरनदी मणिकर्णिका के जलमार्ग से रसातल को प्राप्त हो गयी ? ॥ ८ ॥

सखि कर्षसि किं भगीरथं नयनैः प्रान्तनिविष्टतारकैः ।
अदसीयरथानुपातिनी ननु मुग्धे सुरसिन्धुरेष्यति ॥ ९ ॥

हे सखि, आखों की तिरछी दृष्टि से भगीरथ को क्यों आकृष्ट कर रही हो, अरे पगली, यह भी विचार कर रथ के पीछे-पीछे आने वाली यह सुरनदी क्या नहीं आयेगी ? अर्थात् ऐसा करना मूर्खता है ॥ ९ ॥

तमनुग्रहिणोषि किं दृशौ सखि नेमे पुनरागमिष्यतः ।
ननु चोपरिशाम एव ते प्रथमं तेन वयं प्रतारिताः ॥ १० ॥

हे सखि, तुम इन पर क्यों आँख लगा रही हो, ये सुरनदी और भगीरथ पुनः लौटकर नहीं आयेंगे तुम्हें हम यह उपदेश नहीं दे रही हैं अपि तु इसी प्रकार इन सभी इनसे ठगे गये थे ॥ १० ॥

इयदुच्चलितापि जाह्नवी न किमप्याहरति स्म वस्तुनः ।
अनुमातु मृषा तपस्विना हृदयस्थैव हृता गभीरता ॥ ११ ॥

नतोन्नतगामिनी सुरनदी ने हमारी किसी भी वस्तु का अपहरण नहीं किया किन्तु इस मिथ्या तपस्वी ने हृदय में छिपाकर रखी हुई गंभीरता का भी अपहरण कर लिया ॥ ११ ॥

इयमप्यपरा वराकिका दृगिवास्माकममर्त्यवाहिनी ।
अनुगच्छति तत्र तत्र तं पुरतो गच्छति यत्र यत्र सः ॥१२॥

हम लोगों के अतिरिक्त यह एक दूसरी अभागिनी सुरनदी है जहाँ जहाँ यह राजा भगीरथ जा रहा है वहाँ-वहाँ वह भी उसका अनुसरण कर रही है । अर्थात् इसे ऐसा नहीं करना चाहिये ॥ १२ ॥

अवसन्तममन्दमारुतं जगदेनज्जयतो नृपादितः ।
स्वयमेव सखि स्मरः स्वयं शरचापावपि नाम संन्यसेत् ॥१३॥

वसन्त रहित तीव्र झंझावात वाले संसार को पाप रहित कराने (गङ्गा के अपहरण) से हे सखि, संभव है अब कामदेव अपने धनुष, बाण का परित्याग कर दे ॥ १३ ॥

ननु दृष्टिपथेऽवतिष्ठसे नरनेतुः सखि दूरतो व्रज ।
प्रतिपश्यति सोऽपि चेदितः प्रलयोऽयंननु पौरयोषिताम ॥१४॥

हे सखि, राजा भगीरथ की आँखों के सामने मत पड़ो, उससे दूर ही रहो; क्योंकि प्रत्युत्तर रूप से यदि वे देखेंगे तो नागरिकाओं के लिये प्रलय उपस्थित हो जायेगा ॥ १४ ॥

अलमेनमुदीक्ष्य निर्दयं सखि सौधादवरुह्यते [मया] ।
त्वमिहास्व मनो बहिर्गतं मम चेदेति निरुद्ध्य शंस मे ॥१५ ॥

हे सखि, इस निर्दयी (राजा) को देखकर मेरा मन इसके साथ होकर मुझसे बाहर हो गया है मैं अब अट्टालिका से उतर रही हूँ तुम यहीं रहो यदि किसी प्रकार पकड़ में आ जाय तो मुझे बुलाना ॥ १५ ॥

सरिदन्तरसंगमागसा स्वयमागन्तुमनिच्छतीमयम् ।
महिषीमुदधेरसंशयं मदनोऽयं नयते तदन्तिकम् ॥ १६ ॥

अन्य सरिताओं के संगमजन्य अपराध से समुद्र के समीप न जाने की इच्छा वाली इस सुरनदी को मदनरूपी यह भगीरथ क्या समुद्र के समीप ले जा रहा है ॥ १६ ॥

तरुणे शरदिन्दुसुन्दरे तरलापाङ्गवशंवदस्मरे ।
कृतमानपरिग्रहाः क्षणं किममुष्मिन्नपि सन्ति योषितः ॥ १७ ॥

चञ्चल भौंहों से कामदेव के सदृश शरत्कालिक चन्द्रमा के समान सुन्दर युवा राजा भगीरथ में भी क्षण भर के लिये नारियों ने क्या-क्या कहना प्रारंभ किया है ? ॥ १७ ॥

अधिगोपय मैनमाशये सहसैवोत्सृज यात्वयं क्वचित् ।
ननु चायतपातिभिः शरैर्मदनो मर्मसु ताडयिष्यति ॥ १८ ॥

हे सखि, इस (राजा भगीरथ) को अपने हृदय में स्थान मत दो, शीघ्र ही इसे छोड़ दो । यह कहीं भी जाय यदि ऐसा नहीं करोगी तो कामदेव तीक्ष्ण बाणों से तुम्हारे हृदय को फाड़ देगा ॥ १८ ॥

हिमशैलनिषण्णकिन्नरीनयनोपान्तनिपीतशेषितम् ।
पिबतां नृपमेनमायतं नयनानां न किमस्ति नस्त्रपा ॥ १९ ॥

बर्फीले स्तर प्रखण्ड पर लेटी किन्नरियों के नेत्र प्रान्त भाग से देखे गये ऐसे राजा भगीरथ को देखने वाले हमारे नेत्रों में क्या लज्जा नहीं रह गयी ? ॥

अपचित्य रसालपल्लवान्यधिरुह्य स्फटिकस्थलीमपि ।
अवलोकयितव्यमेवमप्ययि मुग्धे किमवेक्षसे हठात् ॥ २० ॥

आम्र पल्लवों को छोड़कर प्रस्तर शिला का आश्रय लेने पर भी हे मुग्धे, इस प्रकार हठात् मुझे क्यों देख रही हो ? ॥ २० ॥

त्वरयन्नुषिताः सुखेन नः स्वयमेवैनमवेक्षितुं नृपम् ।
प्रहरन्पुनरित्थमाशुगैः प्रसवास्त्रः कथं मद्य जीयताम् ॥ २१ ॥

हम सभी स्वयं ही इस राजा को देखने के लिए शीघ्रता से सुखपूर्वक निकलीं हैं । कामदेव अपने बाणों से यदि इस प्रकार कर रहा है तो हम कैसे जीवित रह सकेंगी ? अर्थात् अब तो भगीरथ के विरह से मरण निश्चित सा हो गया है ॥ २१ ॥

दहतीव विधौ वनप्रिये परुषं जल्पति कुप्यति स्मरे ।
स्वमनस्यपि खेदतापि ते किमयं निष्फलमीक्ष्यते चिरम् ॥२२॥

इस समय चन्द्रमा प्रतप्त सा लग रहा है, मयूर मृदु भाषी नहीं हैं, काम देव क्रुद्ध है, हमारे मन में भी कष्ट का अनुभव हो रहा है ऐसी स्थिति होने पर बिना किसी लाभ के हम क्यों देर से देख रहे हैं ॥ २२ ॥

इति कर्णपुटेन पार्थिवः कलयन्पौरविलासिनीगिरः ।
प्रचचाल तदा शनैः शनैः परिपश्यन् पुररामणीयकम् ॥ २३ ॥

इस प्रकार राजा भगीरथ कर्णपुट से पुरवासिनी वनिताओं की वाणी का श्रवण करते हुये और नागरिक सौन्दर्य का अवलोकन करते हुये धीरे-धीरे चलने लगे ॥ २३ ॥

तनया इव मातरं चिरादुपयातामुपगम्य जाह्नवीम् ।
प्रमदाद्भुत शक्ति शालिनो मुनयो वाग्भिरथोपतस्थिरे ॥ २४ ॥

जैसे माँ से चिर वियुक्त बालक उसे प्राप्त करने के लिये व्याकुल होता है उसी प्रकार भक्ति परिपूर्ण मुनिगण भी जाह्नवी माँ के पास जाकर स्तुति करने लगे ॥ २४ ॥

अपहर्तुमुपायतो विधेर्जननिर्माणमहाधिकारिताम् ।
वितनोषि जनानजन्मनो यदसि प्रागमुनैव यन्त्रिता ॥ २५ ॥

अजन्मा ब्रह्मा जी के सृष्टिजन्य अधिकार को उपाय से समाप्त करने के लिये लोगों को उसे प्रदान करने के कारण ही आप (सुरनदी) को ब्रह्मा ने नियन्त्रित किया था ॥ २५ ॥

वितरिष्यसि काङ्क्षितानिति त्वयि विश्वासमवाप्नुमः कथम् ।
अपसृत्य वपुर्वपुष्मतां ननु तेभ्यो न ददासि तत्पुनः ॥ २६ ॥

आप हमें अभीष्ट प्रदान करेंगी ऐसा हम आप में कैसे विश्वास करें ? क्योंकि आप शरीरधारियों के शरीर को छीनकर पुनः उन्हें वह शरीर नहीं प्रदान करतीं ॥ २६ ॥

दिश देवि सुतान्दिश स्त्रियो दिश भोगानिति नार्थयामहे ।
जहिमो वपुरेव गृह्यतां तदिदानीमिति नो मनोरथः ॥ २७ ॥

हे देवि, हमें पुत्र दो, हमें स्त्री दो; इस प्रकार हम आपसे भोग की याचना नहीं करते । इस समय हमारा यह शरीर ही ग्रहण करो यही हमारा मनोरथ है ॥ २७ ॥

दिश नः प्रणतैव वाञ्छितं सुरसिन्धो यदि लिप्ससे यशः ।
वपुरन्तमपि प्रतीक्षसे यदि काश्यां पुनरुक्तिरेव ते ॥ २८ ॥

हे सुरसरिते, यदि आप यश चाहती हैं तो प्रणाम मात्र से ही हमारा मनोरथ सफल करें । यदि आप अन्तिम शारीरिक क्षण की प्रतीक्षा कर रही हैं तो काशी में आप की यह पुनरक्ति होगी ॥ २८ ॥

अमृतं हृतवत्यसि ध्रुवं हरकोटीरमृगाङ्कसंगता ।
वयमप्यमृतार्थिनस्ततो भवतीमम्ब चिरादुपास्महे ॥ २९ ॥

आप शिवजटा में चन्द्रमा के समीप रहने से निश्चय ही अमृतापहरण किया होगा । हे मातः, हम सभी उसी अमृत को चाहते हैं इसीलिये आप की उपासना बहुत देर से कर रहे हैं ॥ २९ ॥

वसवो बहवो विनाशिता न च गर्भे विधृतोऽपि षण्मुखः ।
भवतीं सुतनिर्घृणामतो वदितुं मातरिति त्रपामहे ॥ ३० ॥

आपने सम्पत्तियों का विनाश किया, कार्तिकेय को भी आप ने गर्भ में नहीं धारण किया इसलिये पुत्रों में घृणा करनेवाली आप को माता कहने में भी हम भयभीत हो रहे हैं ॥ ३० ॥

निगमैस्तव संस्तवो महानपि सर्वत्रशिरस्यवस्थितिः ।
परिहर्तुमतस्तवौचिती भवमूलं ननु चक्रकाश्रयम् ॥ ३१ ॥

वेदों की महती स्तुति भी आप की सर्वज्ञता का अपमान है इसलिये कुछ न कहना ही उचित है, क्योंकि यह संसार तर्क के आधार पर स्थिर है ॥ ३१ ॥

सुखमास्व पुरीह याहि वा म पुनर्जातु यतस्व मत्कृते।
भवितव्यपरिक्रमैः क्वचित्सकृदस्मानपि सिञ्च शीकरैः ॥ ३२ ॥

इस काशी नगरी में सुखपूर्वक आप रहें या जाँय यह भवितव्यता पर आधारित है किन्तु मेरे लिये आप को अवश्य ही कुछ करना चाहिये तथापि कम से कम एक बार तो अपने जलकणों से हमें अभिषिक्त करें ॥ ३२ ॥

स्वतनूविषयामहंक्रियामपहातुं त्वयि मज्जतां सताम्।
भुवनत्रयगोचरैव सा पुनरुन्मीलति हा किमद्भुतम् ॥ ३३ ॥

अपना शारीरिक अहंकार छोड़ने के लिये तुम्हारे जल में निमज्जित सज्जनों के बाद भी वह अहंकार तीनों भुवनों में दिखाई देने से मानों उन्मीलित हो रहा है यह कितना आश्चर्यजनक है ॥ ३३ ॥

न विमुञ्चसि सावलेपतां ननु मुग्धे शमितापि शंभुना।
किमपि प्रणतैव देहिनां किमुपारोहसि मस्तकस्थलम् ॥ ३४ ॥

हे मुग्धे, शंभु के द्वारा शान्त होने पर भी प्रणतों के मस्तक पर क्यों आरोहण करती हो और अपने अहंकार को कुछ भी नहीं छोड़ रही हो ॥३४॥

इति जह्नुसुतास्तवोक्तिभिर्मुखरे तत्र मुनीन्द्रमण्डले।
अवरुह्य भगीरथो रथादगमद्विश्वपतेरुपान्तिकम् ॥ ३५ ॥

इस प्रकार जाह्नवी स्तुति से मुनि गणों के मुखरित होने पर राजा भगीरथ रथ से उतरकर विश्वेश्वर भगवान शिव के समीप गये ॥ ३५ ॥

शतशः परितोष्य शंकरं प्रणिपातैर्मुदितो भगीरथः।
सुकुमारतरैः सुगन्धिभिः कुसुमैरर्चयति स्म वाङ्मयैः ॥ ३६ ॥

राजा भगीरथ अनेक प्रणामों से शंकर जी को सन्तुष्ट करके अत्यधिक प्रमुदित हुये और उन्होंने गन्ध पुष्पादि एवं गंभीर वाणी से शिव जी की स्तुति और पूजा की ॥ ३६ ॥

भव भूतपते विषाशनो भव भिक्षुर्भव भोगिभूषणः।
तदपि प्रतिपत्तुमर्थये तव सारूप्यविडम्बनामहम् ॥ ३७ ॥

हे विश्वेश्वर भगवान्, आप विषभक्षक (लोककल्याण के लिए) हों, भिक्षु हों, गृहस्थों के आदर्श अथवा सर्प का आभूषण धारण करने वाले हों। इतने

पर भी आप की सरूपताजन्य विडम्बना की उपलब्धि को मैं याचना करता हूँ ॥ ३७ ॥

अयि लुब्धकताधिरोप्यतामपि वा भिक्षुकताभिनीयताम् ।
इयतैव किमर्थिनो नरा जहति त्वां कपटैकशिक्षिताः ॥ ३८ ॥

आप के ऊपर लोभी का आरोप करें या भिक्षावृत्ति के अभिनेता का आरोप करें इतने पर भी क्या एकमात्र कपटी याचक लोग क्या आप को छोड़ देते हैं ? अर्थात् वे किसी भी तरह आप को नहीं छोड़ सकते ॥ ३८ ॥

मदनान्तकविष्टपत्रयक्षुधिताह्लादनकङ्कणाङ्कया ।
अपि नोदरमन्नपूर्णया तव पूर्यंत विनैव भिक्षया ॥ ३९ ॥

हे मदनान्तक शिव, तीन लोकों की बुभुक्षाजन्य आह्लाद रूपी आभूषण को धारण करने वाली अन्नपूर्णा के विना क्या आप का उदर नहीं पूर्ण हो सकता ? ॥ ३९ ॥

जटिलोऽसि दिगम्बरोऽसि यज्जितकामस्य तदर्हमेव ते ।
गुणगृह्य इतीदमुच्यसे किमपि च्छादय सव्यमङ्कम् ॥ ४० ॥

हे शिव, आप जटिल है; दिगम्बर हैं, काम पर विजय प्राप्त करने में आप ही समर्थ हैं, आप गुणग्राही हैं अत एव अपने वामाङ्ग को आच्छादित करे ॥ ४० ॥

स्वयमेव दिशन्मदीप्सितं वह निःश्रेयसदान शौडताम् ।
परथापि तदर्पयिष्यते ननु गङ्गामणिकर्णिकादिभिः ॥ ४१ ॥

जिस प्रकार हाथी दानशूरता से सुशोभित होता है इसी प्रकार आप भी निरन्तर कल्याण प्रदान करते हुये हमारे अभीष्ट की सिद्धि करें अन्यथा गङ्गा के मणिकर्णिकादि घाटों से वह स्वयं ही मिल जायेगा [अर्थात् काशी में रहने से मुक्ति तो मिलेगी ही ऐसी स्थिति में कल्याण करने वाले व्रत का पालन कैसे होगा] ॥ ४१ ॥

भुवनत्रयभारवाहिना भवता मे भवितु न कौतुकम् ।
भवदङ्घ्रिसरोजसेविषु प्रमथेष्वेकतरस्त्वमस्तु मे ॥ ४२ ॥

मेरा अभिलाष तीन भुवनों के भारवाहक आप के द्वारा नहीं है अपितु आप के चरण सेवक प्रमथों में कैवल्यार्थ निहित हो, मैं यही चाहता हूँ ॥४२॥

भवबन्धहरोऽस्मि देहिनामिति विश्राम्यतु वीरघोषणा ।
चतुरो यदि पूर्वमात्मनः श्लथय त्वं त्रिजगत्कुटुम्बिताम् ॥ ४३ ॥

मैं शरीरधारियों को सांसारिक बन्धनों से मुक्त करता हूँ अब आप की

घोषणा उपयुक्त नहीं, क्यों कि यदि ऐसा है तो सबसे पहले आप तीन लोकों की कुटुम्बिता को शिथिल करें; क्यों कि यदि आप भवबन्धन रहित करते हैं तो तीन लोकों का आगे चलकर कैसे अस्तित्व सुरक्षित होगा ॥ ४३ ॥

सति हेमगिरौ शरासने सति वेश्मन्यपि राजते गिरौ ।
भवता शिव भैक्षवृत्तिना क्रमितव्यः समयः कियानयम् ॥४४॥

घर में चाँदी सोने के पहाड़ (कैलास-सुमेर) होने पर भी हे शिव, आप के द्वारा भिक्षा-वृत्ति से कबतक समय यापन होता रहेगा । अर्थात् अतुल सम्पत्ति होने पर भी आप भिक्षा-वृत्ति से उदर पूर्ति करते हैं यह आपकी महानता है ॥ ४४ ॥

वहसीन्दुमनेन किं भवेद्भवतो वस्तुषु सारवेदिता ।
भवदादरणात्कपालवद्भवति प्रत्युत तस्य हेयता ॥ ४५ ॥

आप चन्द्रमा को धारण करते हैं क्या इसके प्रकाश से आप को सभी वस्तुओं का परिज्ञान है । बल्कि आपके आदर देने से उसकी कपाल की तरह हेयता सिद्ध होती है, अर्थात् आप सभी को समान रूप से अभीष्ट वरदान देते हैं भेदभाव आप में नहीं है ॥ ४५ ॥

त्रिपुरेषु परीक्षितं स्मितं मदनो वेद कटाक्षमीश ते ।
ननु नाम जनो जिजीविषुर्बहुमानं भवतोऽर्थयेत कः ॥४६॥

हे ईश, त्रिपुर परीक्षित मन्द हास्य के कटाक्ष को यदि कामदेव ने जैसे समझा यदि ऐसा है तो जीवित रहने का इच्छुक व्यक्ति आप से फिर क्या याचना कर सकेगा ? ॥ ४६ ॥

सकृदत्र समेयुषां नृणां शिरसि स्थापयसे सुरापगाम् ।
अमुमर्थमजानता मया कियदस्यै सरिते कृतं तपः ॥ ४७ ॥

यहाँ काशी में आप सार्वजनिक रूप से गङ्गा की उपलब्धि करायेंगे इस बात को न जानते हुए मैंने व्यर्थ में ही सुरनदी के लिये इतना कठोर तप किया । [अर्थात् यदि मुझे ज्ञान होता कि आप कभी अवश्य ही सभी को गङ्गा की उपलब्धि करायेंगे तो मैं तप न करता] ॥ ४७ ॥

इति स्तुवन्मुकुटनिवेशिताञ्जलिर्भगीरथः प्रणतशिवं करं हरम् ।
न्यवर्तत क्षणगमनोपरोधतः क्व जाह्नवी प्रतिचलिता तटादिति ॥ ४८ ॥

इस प्रकार मस्तक पर्यन्त हाथ जोड़े हुये राजा भगीरथ प्रणाम करने वालों का शुभ करने वाले शिव की स्तुति करते हुए क्षणिक गमनावरोध से 'जाह्नवी, तट से कहाँ तक गयी' ऐसा सोचकर लौट आये ॥ ४८ ॥

अथ नृपमधिरुढस्यन्दनं यान्तमग्रे
सुरसरिदनुयान्ती वीचिभिर्मन्थराभिः।
विहितजनकुटुम्बा संनिधौ दण्डपाणे-
र्बलबदनुगमेऽपि प्राप्तशङ्केव रेजे ॥ ४९ ॥

अनन्तर आगे चलने वाले रथारुढ राजा भगीरथ का मन्थर तरङ्गों के साथ अनुसरण करती हुई सुरनदी बलपूर्वक अनुगमन करने पर जैसे दण्डपाणि (यमराज) के समक्ष कोई परिवार सशङ्कित हो, इस प्रकार वे सुशोभित हुईं।

आचान्तो नयनैरपक्ष्मबलयैरायम्य पौरैर्जनै-
र्धावं धावमुपावरुन्ध्य सरणिं सङ्घीभवद्भिः पुरः।
स्पृष्टः साधय साधयेति लहरीहस्तैरिवान्वक्तया,
त्रस्यन्त्या पुरुशासनादतिययौ देवः स वाराणसीम् ॥ ५० ॥

एकत्रित नागरिकों के द्वारा निरन्तर देवगङ्गा की तरङ्गों को दृष्टि से आचमन करके उनके आगे-आगे बार-बार दौड़कर मार्ग को अवरुद्ध करने तथा त्रिपुर शासक शिव से डरने वाली सुरनदी के हाथरूपी तरङ्गों से साधय-साधय (सिद्ध करो, सिद्ध करो) ध्वनि के साथ सुरनदी के जल से परिमार्जित राजा भगीरथ काशी से निकल पड़े ॥ ५० ॥

इति श्रीनीलकण्ठदीक्षितप्रणीते गङ्गावतरणे विश्वेश्वरस्तवो
नाम सप्तमः सर्गः।

अष्टमः सर्गः

समतिलङ्घ्य पुरीमथ काशिकां स पुरतः प्रचचाल भगीरथः।
सुरसरिज्जलसंप्लवसंभ्रमक्षुभितजानपदेन पथा शनैः ॥ १ ॥

अनन्तर राजा भगीरथ काशी नगरी को अतिक्रमित कर सुरनदी के जल प्रपात से व्याप्त राजमार्ग से धीरे-धीरे चले ॥ १ ॥

नरपतेर्दधतीव सहायतां नगरपार्श्वचरी सरयूस्तदा।
पथि पुनः स्वयमेव समागता परिचकर्ष नभःसरितं क्षणात् ॥२॥

मार्ग में भगीरथ की सहायता करती हुई नगर के समीप बहनेवाली सरयूनदी ने उस समय सुरनदी को खींच लिया ॥ २ ॥

अनुसृतः सरितैष पलायते ननु बलादनया ह्रियते हठात्।
इति नृपः पशुभिः स निसर्गतो निजगदे पथि जानपदैर्जनैः ॥ ३ ॥

सरयू से बलात् अपहृत होने से मानों वह सुरनदी और तीव्र गति से बहने लगी उस समय पशुओं के साथ राजा भगीरथ का अनुसरण करने वाले ग्रामीणों ने इस प्रकार कहा ॥ ३ ॥

पथि चचाल भगीरथदर्शिते सुरनदी[1] ··· नेदमहं स्तुवे।
पथि तदाचरिते ननु तद्भुवा प्रकृतिमण्डलमेव नियम्यते ॥ ४ ॥

राजा भगीरथ के मार्ग-निर्देशन में चलने से इस समय हम सुरनदी की स्तुति नहीं करते क्योंकि उनके (भगीरथ के) मार्ग पर चलने पर उनकी भौंहों से पूरा प्रकृति का समूह ही नियंत्रित है ॥ ४ ॥

कियदितश्चलितव्यमिति श्रमव्यतिकरादनुयोक्तुमिवोद्यता।
असकृदस्पृशदूर्मिकराग्रतः प्रचलितं पथि तं पुरतो नदी ॥ ५ ॥

'अभी कितनी दूर चलना होगा' मानों श्रमाधिक्य से थक कर जिज्ञासा पूर्वक नदी ने आगे चलने वाले राजा भगीरथ को तरङ्गरूपी अपने हाथों से अनेकशः स्पर्श किया ॥ ५ ॥

चिरनिरुद्धमनोरथमालिका सुरनदी दयिताननचुम्बने।
कलयति स्म मुखानि सहस्रधा सति समीपगते मकरालये ॥६॥

---

१. 'सुरनदीमधुनेदमहं स्तुवे' अनुवादक के अनुसार।

समुद्र से मिलने के लिए बहुत समय से निरुद्ध मनोरथरूपी माला धारण करने वाली उस सुरनदी ने समुद्र के समीपस्थ होने पर अपने मुखरूपी हजारों स्रोतों को धारण किया ॥ ६ ॥

पथि विलम्ब्य विलम्ब्य पदे-पदे गिरिगुहासु निलीय निलीय च ।
उपजगाम कथंचिदुपान्तिकं नववधूरिव नर्मसखस्य सा ॥ ७ ॥

मार्ग में पग-पग पर विलम्ब करके और पर्वत—कन्दराओं में पुनः पुनः प्रवेश करके वह सुरनदी किसी प्रकार विदूषक की बधू की तरह समुद्र के समीप आ गयी ॥ ७ ॥

अनशनव्रतकर्शितकुम्भभूसलिलपारणसंशयिताम्भसः ।
अवततार बिले किल केवले जलनिधेरथ भूमिपते रथः ॥ ८ ॥

उपवास करने से कृश शरीरवाले अगस्त्य ऋषि के द्वारा जल पारणा (पीने से) करने से प्रसुप्त (गम्भीर) जल वाले समुद्र के अनावृत गुफा मार्ग में राजा भगीरथ का रथ उतरा ॥ ८ ॥

तमसि तत्कुहरोपहिते महत्यनुचिता तपनातपसंकथा ।
तपन एव यदि स्वयमापतेद्भवति कज्जलपिण्ड इव क्षणात् ॥ ९ ॥

उस गुफा के कुहरा से व्याप्त अन्धकार में सूर्य की धूपकथा का कोई महत्त्व नहीं यदि सूर्य भी उसके अन्धकार को दूर करने के लिये उसमें गिर पड़े तो वह स्वयं कज्जल के समान हो जायेगा । अर्थात् उस प्रगाढ़ अन्धकार को दूर करने में सूर्य भी असमर्थ है ॥ ९ ॥

उपनिपत्य पुरेव पिपासया जिगमिषन्ति न यावदितोऽन्यतः ।
जलधरा इति तावदबिन्धनो हुतवहः किल तानपि जग्रसे ॥ १० ॥

जल ग्रहण की इच्छा से समुद्र में उतरने वाली मेघ पंक्ति जैसे ही चलने की इच्छा करती है वैसे ही वडवाग्नि उन्हें नष्ट कर देता है ॥ १० ॥

प्रतिनवाम्बुदशीकरसेचनप्रकटितोष्मणि तत्र हि यादसाम् ।
ज्वरमधत्त यथा जलदागमो न तु तथा मधुमासविपर्ययः ॥ ११ ॥

नये नये मेघों के छोटे-छोटे कणों से अभिसिञ्चित होने पर जल में ऊष्मा प्रकट हो जाती थी जिसमें जल-जन्तुओं में मेघों का आगमन ग्रीष्म ज्वर उत्पन्न कर देता था ॥ ११ ॥

प्रतिनिदाघविरामसमाहितैर्जलधराम्बुभिराहितवृत्तयः ।
कतिचिदासत कण्ठगतासवो जलपतेः पुरि तोरणवालकाः ॥ १२ ॥

उस समुद्र पुरी में कहीं-कहीं सूर्यास्त के समय आये हुये मेघों के जल से नष्ट वृत्ति वाले तटवर्ती तोरणवाल (तृण विशेष या बालखिल्य) आधे झुलस गये थे ॥ १२ ॥

पतिभिया निपतेयुरितोऽद्रयः क्षितितले जगदण्डमितः स्फुटेत् ।
तदनु चावरणोदकमुत्पतेदिति मनोरथमूहुरिह स्थिताः ॥ १३ ॥

समुद्र तट के समीप रहने वाले लोगों ने यहाँ से पृथ्वी पर इन्द्र के भय से पर्वत गिरेंगे, विश्व का विकास होगा पश्चात् कुहरा पड़ेगा इस प्रकार अपने मनोरथ को समझा ॥ १३ ॥

प्रियतमाभिगमाय सुदूरतोऽप्युपगता सरितो जलदागमे ।
नमनवेक्ष्य शुचेव तदास्पदे प्रथम एव पदे विलयं गताः ॥ १४ ॥

प्रियतम समुद्र से मिलने के लिये दूर से आयी हुई नदियाँ बादलों के आ जाने पर समुद्र को न देखकर (विरह के कारण) शोक से उसी स्थान में विलीन हो गयीं ॥ १४ ॥

शितिभृतः कुलिशाहतिकातराः शरणमित्यभजन्त यमर्णवम् ।
स च बभूव कथा परिशेषितो विधि[1] रां मुखता ननु तादृशी ॥ १५ ॥

इन्द्र-वज्र से भयभीत पर्वत जिस समुद्र की शरण में गये थे अब वह कथा समाप्त हो गयी (अर्थात् नदियाँ के आने से उस कथा का महत्त्व समाप्त हुआ और उनकी कथा प्रारंभ हुई) ब्रह्मा के नियमानुसार ही सभी कार्य होते हैं ॥ १५ ॥

कवलितास्तिमिभिः शफरार्भकाः सुखमसंसत जीवनतो मृतिम् ।
सलिलशालिषु तद्वदनाध्वसु क्षणपरिक्रमणोत्सवलिप्सया ॥ १६ ॥

समुद्र के प्रगाढ़ जल में क्षणिक परिभ्रमण की इच्छा से जलतरङ्गों से ग्रसित छोटी-छोटी मछलियों ने जीवन से मृत्यु को सुखद माना ॥ १६ ॥

क्वचन भानुसुतादिमहानदीपतनतः शिशिरास्विव भूमिषु ।
परिमितानमितस्तनुशोषणाज्जलधरानवलोक्य शुशोच सः ॥ १७ ॥

कहीं पर यमुना आदि महानदियों के पतन से सुशीतल स्थलों में प्रक्षीण मेघों को देखकर राजा भगीरथ सोचने लगे ॥ १७ ॥

रविकरोपनिवातविशोषितस्फुटितकर्दमरन्ध्रनिरन्तरम् ।
बिलमवेक्ष्य बिभाय स वारिधेः सुरनदी सलिलव्ययशङ्कया ॥ १८ ॥

---

१. विधिगिरां मुखता ननु तादृशी । —अनुवादक के अनुसार ।

सूर्य की तीव्र किरणों के द्वारा शुष्क कीचड़ रन्ध्रों से व्याप्त गुफाओं को देखकर सुरनदी के जल व्यय की आशंका से राजाभगीरथ समुद्र से भयभीत हो गये। अर्थात् उन्होंने समझ लिया यदि सुरनदी समुद्र में मिलती है तो सूर्य की तीव्र किरणों से उसका जल-शोषण (सूखना) संभव है ॥ १८ ॥

चिरमनेन पथा परुषोष्मणा प्रतिनिशं प्रचरन्नपि चन्द्रमाः।
कथमहो न कदापि विलीन इत्यसकृदाकलयन्स विसिस्मिये ॥ १९ ॥

इस तीव्रातप पूर्ण मार्ग से चन्द्रमा प्रत्येक रात्रि में देर तक घूमता हुआ कैसे नष्ट नहीं होता? इस प्रकार अनेक बार सोचते हुये राजा भगीरथ विस्मित हो गये ॥ १९ ॥

अथ भगीरथदेवपथानुगा सुरनदी तदवाप बिलं भुवः।
प्रथममावसथादिव वेधसः प्रमथनाथजटागहनोदरम् ॥ २० ॥

अनन्तर राजा भगीरथ का अनुसरण करने वाली वह सुरनदी शिव जटा के समान घनीभूत एवं ब्रह्मा के प्रथम निवास गृह रूपी पृथ्वी की कन्दरा (गुफा) को प्राप्त हुई ॥ २० ॥

सति सरस्वति सन्ति पयोधराः सति तदम्भसि सन्ति च सिन्धवः।
तदिह काम्बुकथेति विषीदतामभयदेयमजायत यादसाम् ॥ २१ ॥

समुद्र के रहने पर भी मेघ हैं, जल होने पर भी बहुत से समुद्र हैं इस प्रकार जल की कथा का अन्त नहीं, इससे भयभीत होने वाले जल-जन्तुओं के लिये यह सुरनदी अभय प्रदान करने वाली हुई। (अर्थात् जल तो बहुत है किन्तु सुरनदी के समान कोई भी जल नहीं हो सकता इसीलिये इसको अमृत कहा गया है)॥ २२ ॥

कियदिदं परिपूरयितुं भवेत्सगरसूनुनखाग्रकृतं बिलम्।
इति पतद्भिरपि स्मयमन्थरं सिम सिमायितमेव तदूर्मिभिः ॥ २२ ॥

सगर-पुत्रों के नखाग्र भाग से खोदने से गहरे इस समुद्र की पूर्णता के लिये कितना जल होना चाहिये? मानों इसी भावना से वह समुद्र आश्चर्य जनक रूप में सुरनदी की तरङ्गों से परिपूर्ण हो गया ॥ २२ ॥

समदवल्गदमर्त्यतरङ्गिणी शफरवर्गनिरीक्षणलज्जिताः।
अनुबभूवुरहो नु महोत्सवं तमपि सिन्धुशया जलजन्तवः ॥२३॥

तीव्रवेग से प्रवाहित होने वाली सुरनदी के अन्दर की मछलियों के निरीक्षण (देखने से) समुद्र के जल-जन्तुओं ने लज्जित होने पर भी महोत्सव रूप में अनुभव किया ॥ २३ ॥

मधुरिमैकरसापि सुरापगा लवणतामगमत्पतितार्णवे ।
भुवनमूल्यरसापि हि साहिती कुकविवक्रगता कुरुते व्यथाम् ॥२४॥

जिसके जल में केवल मधुरता ही व्याप्त है ऐसी मधुर सलिला सुरनदी भी समुद्र में गिरने से लवणता को प्राप्त हो गयी क्योंकि अमूल्य रसपरिपूर्ण साहित्य भी कुकवि की कुटिलता से नीरस होकर कष्टदायी होता है ॥२४॥

सुरनदी सलिलानिलताडितः परिजहौ भसितावरणं पुनः ।
अधित धूममथाग्निरबिन्धनः सति समीपतले पुनरार्द्रिते ॥ २५ ॥

समुद्र वडवाग्नि ने सुरनदी के जल-तरङ्ग वायु से भस्म को दूर किया तदनन्तर जल-तरङ्गों से जब समीपवर्ती होकर आर्द्रता होने पर उसमें धुआँ (धूम्र) व्याप्त हो गया। अर्थात् आर्द्रता से अग्नि में धुआँ उठना स्वाभाविक है ॥ २५ ॥

पयसि संभृत एव यथापुरं जलनिधौ मिलिता जलजन्तवः ।
यदि भवन्ति कथंचन संपदो भवति का स्वजनेषु दरिद्रता ॥ २६ ॥

जल से परिपूर्ण समुद्र में जैसे जल-जन्तु बिना किसी अभाव के सुख पूर्वक रहते हैं। यदि यही व्याख्या समान रूप से मनुष्य के लिये भी हो जाय तो स्वजनों में दरिद्रता का कोई प्रश्न ही नहीं होता ॥ २६ ॥

सगरनन्दनरन्ध्रसमुत्पतद् भुजगराजपुरीतिमिरावृते ।
जलनिधेः कुहरे लुठनादभूत्सुरनदीसलिलेष्वपि नीलता ॥२७॥

सगर-पुत्रों द्वारा खोदे हुए समुद्र के अन्दर नागलोक के अन्धकार से अच्छादित कुहरे में समुद्र की नीलिमा के कारण सुरनदी का जल भी नीला हो गया ॥ २७ ॥

समुपलभ्य पयांसि यथापुरं मुमुदिरे न तथा जलमानवाः ।
सलिलशोषदशासु लयं गतान्समनुचिन्त्य शिशूनरुदन्यथा ॥ २८ ॥

पानी सूख जाने पर नष्ट हुए अपने बच्चों को स्मरण कर जलमानवों ने जितना रोदन किया अत्यधिक जलों के मिलने पर वे उतना हर्षित न हो सके ॥ २८ ॥

समधिकोष्मणि तत्र विलिल्यिरे निपतिताः प्रथमे सरिदूर्मयः ।
सपदि पूरितसागरवीचिकाप्रतिहताश्चरमे तु निवर्तिताः ॥ २९ ॥

सर्वप्रथम सुरनदी की तरङ्गें वडवाग्नि-संतप्त समुद्र में गिर कर विलीन हो गयीं किन्तु शीघ्र ही समुद्र की तरङ्गों से प्रतिहत होकर प्रति निवृत्त हो गयीं ॥ २९ ॥

चुलुकितो मुनिनापि गतत्रपः परिजुघोष पुरेव तदार्णवः ।
मतिमता ध्वनितव्यमदोषवत्क इव वेद गतं सदसच्च वा ॥ ३० ॥

अगस्त्य मुनि के द्वारा चुल्लू से पान करने पर भी लज्जित न होने वाले समुद्र ने यथापूर्व की तरह गर्जन किया, दोष रहित सद् असद् (सज्जन-दुर्जन) परिज्ञान किसे है ? इसे तो बुद्धिमान व्यक्ति ही जान सकता है ॥ ३० ॥

अयमगाहत शोषमिह स्थिता जलचरा बहवः प्रलयं गताः ।
इति तदम्बुनरा मुदिताः क्षणादकथयन्गतकल्पकथामिव ॥ ३१ ॥

किसी समय जब समुद्र सूख गया था उस समय उसमें रहने वाले अनेक जल-जन्तु मर गये थे। इस समय पर्याप्त जल होने से प्रमुदित जल मानुसों ने बीती हुई कल्पित कहानी की तरह इस प्रकार कहा ॥ ३१ ॥

अथ पतन्तमसुं नृपते रथं तमपि सागरं पूरणनिस्वनम् ।
युगपदेव पपुः सुखमीक्षणैरनिमिषैरहिलोकपुरंध्रयः ॥ ३२ ॥

अनन्तर राजा भगीरथ के तीव्रगामी रथ की ध्वनि तथा प्रपूर्ण समुद्र की गर्जना को नागलोक निवासिनी पुरंध्रियों ने निमेष रहित दृष्टि से श्रवण किया ॥ ३२ ॥

फणधरालयमूलनिवासिनं प्रमथनाथमवेक्ष्य भयेन वा ।
क्षणनिरुद्धतरङ्गरया पुनः परिपपात भगीरथबोधिता ॥ ३३ ॥

नागलोक के मूल निवासी शिव को जानकर उनके भय से सुरनदी की तरङ्गों का वेग कुछ अवरुद्ध हो गया, वे भगीरथ के प्रबोधित करने पर पुनः तीव्र गति से प्रवाहित होने लगीं ॥ ३३ ॥

कनकभूधरमूलमणित्विषा गलितसंतमसेऽथ रसातले ।
भुजगराजभुजार्गलपातितां धुरि ददर्श भोगवतीं पुरीम् ॥ ३४ ॥

सुमेरु पर्वत की मूलस्थ मणिकान्ति से अन्धकार रहित पाताल में सर्पराज वासुकि की भुजारूपी अर्गला से सुरक्षित नागलोक को राजा भगीरथ ने देखा ॥ ३४ ॥

प्रवसतो विनिवर्तयितुं पतीन्कृतधियः किल यत्फणिकन्यकाः ।
पथिकुहापि तदीक्षणगोचरे परिनिपत्य भवन्ति गतज्वराः ॥ ३५ ॥

प्रवासी पतियों को लौटाने का निश्चय करने वाली नागकन्यायें कुहरा व्याप्त मार्ग में भी उनके देखने मात्र से ही जिस नागलोक में ज्वर रहित हो जाती है ॥ ३५ ॥

स्वयमुपेतसमीरकृताशनैः स्फुटितभूविवरोदरशायिभिः ।
कणधरैरनपेक्षितवेतनैः प्रभुरवर्तत यत्र स वासुकिः ॥ ३६ ॥

स्वयं प्राप्त होने वाले वायु का पान करने वाले एवं किलों में शयन करने वाले अवैतनिक सर्प नाग वासुकि के समीप रहते हैं ॥ ३६ ॥

सदनमेत्य स जग्धिकृते सखीन्समुपहूय निवेश्य च पङ्क्तिशः ।
विदधति व्यजनैरुपवीजनं किमपि यत्र मुखेष्वनिलाशनाः ॥३७॥

अपने मित्र सर्पों को आमन्त्रित कर और उन्हें पङ्क्ति बद्ध प्रवेश कराकर जिस नागलोक में सर्पगण फूत्कार से सर्पराज को व्यजन (चँवर) डुला रहे थे ऐसा राजा भगीरथ ने वहाँ देखा ॥ ३७ ॥

सति फणावलयातपवारणे सति च तन्मणिदीपशिखाङ्कुरे ।
घन[1] तटिज्जटिलेषु घनागमेष्वभिसरन्ति न यत्र फणिस्त्रियः ॥ ३८ ॥

जिस नागलोक में सर्पों के फणरूपी छत्र एवं प्रकाशनार्थ सर्पमणि होने पर भी घनीभूत बिजली वाले वर्षा काल में सर्पों की स्त्रियाँ बाहर नहीं निकलतीं ॥ ३८ ॥

न विधुरस्ति न दक्षिणमारुतः क इव तद्विधुरः कुसुमायुधः ।
तदपि शासनमस्य दुरुत्तरं शिरसि बिभ्रति यत्र फणिस्त्रियः ॥३९॥

जिस नागलोक में चन्द्रमा दक्षिणानल और कामदेव के न होने पर भी सर्प-पत्नियाँ नाग वासुकि के अनतिक्रमणीय शासन का पालन करती हैं ॥ ३९ ॥

कतिचिदच्युतमञ्चकुलोद्भवाः कतिपये हरकुण्डलवंशजाः ।
रविरथाश्वगुणान्वयजाः परे तदिह ताक्ष्यर्भयं न यदोकसाम् ॥४०॥

विष्णु की शय्या स्वरूप शेषनाग के कुल में उत्पन्न होने वाले कुछ सर्प तथा शिव जी के कुण्डल में लिपटे रहने वाले कुछ सर्प उस वंश के थे । इनके अतिरिक्त अन्य सर्प सूर्याश्व गुणानुयायी वंश से उत्पन्न हुये थे—ये सभी सर्पगण गरुड़ के भय से यहाँ नागलोक में रहते हैं ॥ ४० ॥

अधुतसिद्धशिरोमणिभूषणो ग्रथनविश्लथनासहकञ्चुकः ।
अधूतकुण्डलमुग्धमुखाम्बुजो जयति यत्र भुजङ्गवधूजनः ॥४१॥

जिस नागलोक में मणिरूपी आभूषण सिर पर धारण करने वाली शिथिल

---

१. 'घनतडिज्जटिलेषु'—अनुवादक के अनुसार ।

केंचुलरूपी कञ्चुक धारण करने वाली एवं सुन्दर कमल की तरह मुख वाली कुण्डलित सर्पिणियाँ सर्वोत्कृष्ट हैं ॥ ४१ ॥

सति महावरणेऽपि हि यज्ज्वना न दधते परिखाखनने त्वराम् ।
तनुतराब्जभवाण्डकरण्डकाधरकपालपरिक्षतिशङ्कया ॥ ४२ ॥

जिस नागलोक में रहने वाले लोग अत्यधिक सूक्ष्म मृत्युलोक मधु के छत्ते की तरह ऊपर स्थित होने से ऊपर गिरने की आशङ्का के कारण अत्यधिक जल से सुरक्षित रहने के लिए परिखा (खाई) खनन में शीघ्रता नहीं करते ॥ ४३ ॥

परिपतत्सु ततः स समन्ततः स्वमवलो कयितुं पुरवासिषु ।
बहिरभीतवदास्त हृदा पुनः परिजजाप पतङ्गपतेर्मनुम् ॥ ४३ ॥

तदनन्तर चारों तरफ दौड़ते हुए सर्पों के आ जाने पर वे राजा भगीरथ भयभीत न होकर हृदय से सूर्यवंशी मनु का जप करने लगे ॥ ४३ ॥

पतति तत्र सुधाशनदीजले फणधराः कतिचित्पथि पातिनः ।
प्रविविशुर्भयसङ्कुचिताङ्गका रथविटङ्कपदेषु महीपतेः ॥ ४४ ॥

प्रवाहित सुरनदी के मार्ग में आनेवाले कुछ सर्प राजा भगीरथ से भयभीत होकर शरीर को सङ्कुचित करके रथ के सर्वोच्च स्थानों में प्रविष्ट हो गये ॥ ४४ ॥

प्रमथनाथजटापटलापतत्फणधरेन्द्रमुखादखिलां कथाम् ।
श्रुतवतां किल तन्नगरौकसां सुरनदी न बभूव भयावहा ॥ ४५ ॥

वहाँ नागलोक में सर्पराज वासुकि के मुख से गङ्गाद्वारा शिव जटा में गिरने की कथा श्रवण करने वालों के समक्ष सुरनदी पुनः भयभीत नहीं हुई ॥ ४५ ॥

प्रविशतीषु रसातलमण्डलं त्रिदशसिन्धुजलोरगपङ्क्तिषु ।
अजनि बन्धुसमागमसंभवः फणभृतां प्रतिमन्दिरमुत्सवः ॥४६॥

पाताल लोक में सुरनदी की जलोरग (जल सर्प, या सर्पाकृति वाली जलपङ्क्ति) पङ्क्तियों के प्रवेश करने पर सर्पों ने बन्धु मिलन का महोत्सव मनाया ॥ ४६ ॥

अथ परीत्य स भोगवतीं पुरीममरसिन्धुसखो वसुधेश्वरः ।
शुचि विविक्तमनोरममासदद्भगवतः कपिलस्य तपोवनम् ॥४७॥

अनन्तर सुरनदी के मित्र राजा भगीरथ भोगवती (नागलोक) नगरी का

अतिक्रमण करके भगवान् कपिल मुनि के पवित्रतम एवं सुन्दर तपोवन में प्रविष्ट हुये ॥ ४७ ॥

कपिलकोपहुताशनसंभृतं स पुरतः पितृभस्म निरीक्ष्य तत् ।
प्रमदशोकसमागममूर्च्छितो द्विविधमश्रुदधौ युगपद्दशोः ॥४८॥

राजा भगीरथ कपिल मुनि के क्रोधाग्नि से भस्मीभूत पितरों की राख को सामने देखकर अत्यधिक शोक से मूर्च्छित हो गये और उनकी आँखों में आंसू आ गये ॥ ४८ ॥

अथ रथादवतीर्य भगीरथे सगरजानुपसर्पति वीक्षितुम् ।
भसितराशिममज्जयदम्भसा भगवती सुरलोकतरङ्गिणी ॥४९॥

अनन्तर रथ से उतर कर सगरात्मजों की राख को देखने के लिये राजा भगीरथ के पहुँचने से पूर्व ही सुरनदी ने भस्म को अपने जल में तिरोहित कर दिया ॥ ४९ ॥

सुरसरित्कवलीकृतशोषितं दिवि यदास्त पदं त्रिदिवौकसाम् ।
तदपि तत्क्षणनिर्हृतकल्मषैरपहृतं बलिभिः सगरात्मजैः ॥ ५० ॥

सुरनदी में निमज्जित होने पर स्वर्ग में देवताओं के लिए जो स्थान निर्धारित था उसे उस समय पाप रहित बलि से सगर-पुत्रों ने अपहरण कर लिया ॥ ५० ॥

प्रथमलब्धसुरालयसंभृतप्रतिनवामृतपानगलत्तृषः ।
तदपवर्जितमञ्जलिमम्भसामपि पपुः पितरः सुरवत्सलाः ॥५१॥

सर्वप्रथम स्वर्ग की प्राप्ति के अनन्तर अमृत पान से प्यास रहित होकर भी पुत्रवत्सल पितरों ने भगीरथ द्वारा प्रदत्त सुरनदी के जल से निवापाञ्जलि का पान किया ॥ ५१ ॥

अथ नदीमवगाह्य विनिर्गतः क्षितिपतिः परिपूर्णमनोरथः ।
मृदुगभीरपदामश्रृणोद्दिवि स्तुतिं[1] ··· चतुरामनगुम्फिताम् ॥५२॥

तदनन्तर परिपूर्ण मनोरथ वाले राजा भगीरथ नदी में स्नान कर बाहर निकल आये तथा ब्रह्मा के द्वारा की जाने वाली मृदु गम्भीर स्तुति को आकाश में श्रवण किया ॥ ५२ ॥

न सगरोऽयमविन्दत नांशुमान्न च भवज्जनकस्तपसि स्थितः ।
तमपि लब्धवतोऽद्य मनोरथं तव यशो न गिरां पथि वर्तते ॥५३॥

---

१. स्तुतिमसौ चतुराननगुम्फिताम् ॥ —अनुवादक के अनुसार ।

राजा सगर, अंशुमान और तपस्या रत आपके पिता राजा दिलीप भी जिसे नहीं प्राप्त कर सके उस मनोरथ को प्राप्त करने वाले आप (भगीरथ) का यश वाणी का विषय नहीं हो सकता। अर्थात् वाणी से आपका यशोगान असंभव है ॥ ५३ ॥

श्रुतिगिरोऽपि विचित्य विचित्य यं विफलयन्ति परिश्रममात्मनः ।
समुपलभ्य तमेव महेश्वरं क इव नाम नियोजयितुं प्रभुः ॥ ५४ ॥

जिन महेश्वर शिव का मुहुर्चिन्तन करके भी वैदिक ऋचाएँ अपना परिश्रम सफल नहीं कर पातीं आपके अतिरिक्त ऐसा कौन है जो शिव को नियोजित (वशीभूत करके किसी कार्य में नियुक्त) करने के लिये समर्थ हो सके ॥ ५४ ॥

दशमुखोऽपि यदङ्घ्रिनियन्त्रितान्परिचकर्ष पुरा न भुजान्निजान् ।
क इव तस्य कपर्दपथंगतां सुरनदीमपि कर्षतु साहसी ॥ ५५ ॥

प्राचीन काल में रावण भी जिनके (महादेव) चरणों से नियन्त्रित अपनी भुजाओं को नहीं खींच सका आपके अतिरिक्त ऐसा कौन है जो शिव जी की जटाओं में विचरने वाली सुरनदी को भी खींचने का साहस कर सके ॥ ५५ ॥

यदभजन्त दिवं सगरात्मजा यदपि सिन्धुरपूर्यत शोषितः ।
यदुपयन्ति नराश्च परं पदं तदखिलं तव तात तपोबलात् ॥५६॥

सगरात्मजो ने जिससे स्वर्ग को प्राप्त किया, जिससे यह शुष्क समुद्र जलपूर्ण हो गया, लोगों को जिससे परमपद की प्राप्ति होती है हे तात, यह सब आपके तपोबल से संभव है ॥ ५६ ॥

तव भगीरथ वत्स सुतार्थिनस्तनुभवा सरिदस्त्वियमादिना ।
इति निशम्य गिरं परमेष्ठिनः परिजहौ स तपोजनितां व्यथाम् ॥५७॥

हे वत्स भगीरथ पुत्र की इच्छा वाले आप से अन्तरहित यह सुरनदी अनादि हो, ब्रह्मा की ऐसी वाणी को सुनकर राजा भगीरथ तपोजन्य क्लेश से रहित हो गये ॥ ५७ ॥

ततः समामन्त्र्य वियन्नदीं तां तदम्बुसंपातपथेन देवः ।
अपाङ्गपातैः फणिसुन्दरीणामनुद्रुतः प्राप तटं पयोधेः ॥ ५८ ॥

तदनन्तर उस सुरनदी को प्रसन्न करके उन्हीं के जलप्रपात मार्ग से सर्पिणियों के पलक गिराते ही राजा भगीरथ बड़ी शीघ्रता से समुद्र के किनारे आ गये ॥ ५८ ॥

ततश्चिरादेत्य तटं पयोधेः प्रतीक्षमाणा नृपतेर्निवृत्तिम् ।
चमूसमेताः सचिवास्तदीयास्तमुत्पतन्तं सलिलादपश्यन् ॥ ५९ ॥

तदनन्तर समुद्र तट पर विलम्ब से आकर राजा भगीरथ के लौटने की प्रतीक्षा करने वाले सेना सहित उनके सचिवों ने जलमार्ग से आते हुये भगीरथ को देखा ॥ ५९ ॥

समुद्यतस्तस्य[1] जलान्नृपस्य मुखेन मुग्धस्मितसुन्दरेण ।
उल्लासमासादयति स्म सेना वेलेव सिन्धोः शशलाञ्छनेन ॥६० ॥

जलमार्ग से आने वाले राजा भगीरथ के मन्द हास्य सुशोभित मुख को देखकर सेना वैसे उमड़ पड़ी जैसे चन्द्रमा को देखकर समुद्र तट उमड़ पड़ता है ॥ ६० ॥

तपोविपाकेन निसर्गतोऽपि तमप्रधृष्यं च शनैरुपेत्य ।
पौरैरहंपूर्विकया प्रणेमे तदग्रविन्यस्तमहोपहारैः ॥ ६१ ॥

स्वाभाविक रूप से तेजस्वी होने पर भी तपस्या के कारण और भी तेजस्वी राजा भगीरथ को क्रमशः प्राप्त कर 'मैं ही प्रथम प्रणाम करूँ' ऐसी भावना से नगरवासियों ने उनके समक्ष अनेक महार्घ उपहार रखकर उन्हें प्रणाम किया ॥ ६१ ॥

दृष्टश्चानुकम्प्यानथ संबभाषे संभाषितव्यान्पुनरालिलिङ्ग ।
आलिङ्गितव्यान्प्रणनाम वीरः पौरैश्चिरादुत्सुकतां प्रपन्नः ॥ ६२ ॥

तदनन्तर जिन पर राजा भगीरथ की विशेष कृपादृष्टि रहती थी उनसे समाचार पूछा, कुशल-क्षेम पूछने वालों का आलिङ्गन किया । इस प्रकार बहुत समय से दर्शनार्थ उत्कण्ठित पुरवासियों से हर्षित वीर राजा भगीरथ ने बड़ों को प्रणाम किया ॥ ६२ ॥

प्रख्यापितं प्राक्सुरलोकसिन्धुतरङ्गरेखाजयडिण्डिमेन ।
पृष्टं प्रधानैः सचिवैरुदन्तं संगृह्य वीरः स्वमुदाजहार ॥ ६३ ॥

प्रधान सचिवों के द्वारा पूछने पर वीर राजा भगीरथ ने सुरनदी के अवतरण रूपी विजयध्वनि के साथ उस प्रख्यात वृत्तान्त को सुनाया ॥ ६३ ॥

अलङ्घ्यवाक्यैरथ बन्धुवर्गैराप्तैरमात्यैरनुजीविभिश्च ।
संप्रार्थ्यमानः सममंस्त वीरः स राजनेपथ्यविधिं तदानीम् ॥ ६४ ॥

अनन्तर अनतिक्रमणीय अग्रजबन्धुओं, विश्वसनीय सचिवों तथा अनुजी-

१. समुद्यतः इति षष्ठ्येकवचनम् ।

वियों के अनेक निवेदन को उस समय राजा भगीरथ ने राज्याभिषेक के अभिनय की तरह स्वीकार किया।

मन्दाकिनीमज्जनपूतमेको विस्रंसयन्नस्य जटाकलापम्।
उन्नम्य मौलिं ग्रथयांबभूव मुक्तामयैर्दामभिरेव सान्द्रम्॥ ६५॥

किसी एक व्यक्ति ने सुरनदी के निमज्जन से पवित्र जटा-बन्धन को खोलते हुये राजाभगीरथ के सिर को ऊपर उठाकर घनीभूत प्रकाशित मणियों के साथ उसे बाँध दिया॥ ६५॥

स दुग्धसिन्धूदरजन्मनैव शुद्धेन रेजे श्रुतिमौक्तिकेन।
कीर्त्येव कर्णगतया दिगन्तसमाक्रमोदन्तनिवेदनाय॥ ६६॥

क्षीरसमुद्र में जन्म से पवित्र कर्णाभूषण (कुण्डल) को राजा भगीरथ दिशाओं के वृत्तान्त निवेदन के लिये कर्णसामीप्य को प्राप्त कीर्ति की तरह धारण करके सुशोभित हुये॥ ६६॥

आपाण्डरे चन्दनचर्चिकाभिरामुक्तमुक्तासरलोभनीये।
वक्षःपदे तस्य चिरेण लक्ष्मीर्भस्माङ्गरागव्यसनं मुमोच॥ ६७॥

चन्दनानुलेप से अत्यधिक शुभ्र एवं विशाल मुक्तामणि विनिर्मित माला से सुशोभित राजा भगीरथ के वक्षःस्थल पर लक्ष्मी ने भस्माङ्गराग के चिर कालिक अभाव को छोड़ दिया॥ ६७॥

चचार कर्णद्वयसानुरागे चित्ते यदन्तःपुरसुन्दरीणाम्।
स तेन संरक्त इवाबभासे परिष्कृतः काञ्चनकञ्चुकेन॥ ६८॥

अन्तःपुर की सुन्दरियों के श्रवणानुरागी मन में विचरण करने से वे राजा भगीरथ विशुद्ध स्वर्ण कञ्चुक (वस्त्र) की तरह अनुरक्त होकर सुशोभित हुये॥ ६८॥

स पादमूलग्रथितासिधेनुराबद्धतूणः समुपात्तचापः।
मुखेन रक्तान्तविलोचनेन मूर्तो रसो वीर इवाबभासे॥ ६९॥

पैर तक लटकती हुई तलवार कमर में एवं कन्धे पर तरकस बाँधकर तथा हाथ में धनुष लेकर रक्त नेत्र वाले मुख को धारण करने वाले राजा भगीरथ साक्षात् वीर रस की मूर्ति के समान सुशोभित हुये॥ ६९॥

हृष्टेन गङ्गानयनान्नदीनां पत्या धुरि न्यस्तमिवोपहारम्।
सखायमुच्चैःश्रवसस्तुरङ्गं सापाण्डुरं कंचिदुपारुरोह॥ ७०॥

गङ्गावतरण से समुद्र के द्वारा प्रदत्त उपहार की तरह उच्चैःश्रवा के मित्र

के समान किसी श्वेताश्व (सफेद घोड़े) पर प्रसन्नता के साथ राजा भगीरथ आरूढ़ हुए ॥७०॥

पदेन किञ्चिच्चलितेन सैन्धवं भ्रुवा च पर्यन्तविलोलया चमूम् ।
प्रचालयामास समं भगीरथः शनैस्ततः सागरतीरवर्त्मना ॥७१॥

तदनन्तर धीरे-धीरे चलने और चारों तरफ फैलने वाली संकेत दृष्टि से राजा भगीरथ ने सेना का समुद्र तट मार्ग से संचालन किया जैसे समुद्र अपनी तरङ्गों के साथ उमड़ता है ॥ ७१ ॥

दृगन्तरान्धंकरणं फणाभृतां दिगन्तगन्धद्विपकर्णदारुणम् ।
मुकुन्दनिद्रारसमोषभीषणं बबन्ध भेरी पुरतोऽस्य मौखरीम् ॥७२॥

फणधारी सर्पों के नेत्रों को अन्धा करने वाला, दिशाओं के हाथियों का कर्ण भयङ्कर और विष्णु की निद्रा को दूर करने वाला अत्यधिक भीषण दुन्दुभि का शब्द राजा भगीरथ के समक्ष व्याप्त हुआ। अर्थात् भेरी ध्वनि के साथ राजा ने प्रस्थान किया ॥ ७२ ॥

तदानकध्वानतरङ्गसंप्लवैर्बबन्ध शय्या बलिहन्तुरन्धताम् ।
समीपमासेदुषि सा किमन्यथा विटङ्कमासीत विहङ्गपुङ्गवे ॥ ७३॥

नगाड़े की भीषण तरङ्गित ध्वनि से विष्णु की शय्यासरूप शेषनाग अन्धा हो गया। इतना ही नहीं, समीपस्थ बैठे हुये पक्षिराज गरुड़ के समक्ष भी भयंकर भय छा गया ॥ ७३ ॥

दिवौकसः पाणिविहारमात्रतो दृशोर्निकोचेन परं फणाभृतः ।
अनेन तेनापि नरा व्यवाहरन्नथ क्षणं गर्जति तस्य दुन्दुभौ ॥७४॥

क्षणमात्र के लिए उस दुन्दुभि के बजने पर देवताओं का हाथ फैला ही रह गया, सर्पों के नेत्र सङ्कुचित हो गए; फिर वहाँ के निवासी लोगों पर इसकी क्या प्रतिक्रिया हुई इसका अनुभव कठिन है ॥ ७४ ॥

कठोरधाराङ्कुशपातसङ्कुचत्सबृंहितोदस्तमुखा विषाणिनः ।
चमूचराः कोशवितीर्णसंभ्रमैर्निषादिभिर्दूरत एव निन्यिरे ॥७५॥

उस समय दुन्दुभि बजने पर सेना में प्रयुक्त हाथियों के झुण्ड को अत्यधिक तीक्ष्ण धार वाले अङ्कुश लगने पर ऊपर मुख उठाये चिग्घाड़ते हुए हाथियों को महावतों ने बहुत दूर चलने के बाद वश में कर लिया ॥ ७५ ॥

तनुच्छदासञ्जितचर्मपट्टिकानिबद्धकौक्षेयनिषङ्गकार्मुकाः ।
खलीनरज्जुग्रहणोच्छ्रितानना: प्रचेलुरश्वाः पुरतोऽस्य सङ्गराः ॥७६॥

चमड़े की पट्टी से जिनका उदर भाग अच्छी प्रकार से बाँध दिया गया है तथा लगाम खींचने से ऊपर मुख वाले सेना के घोड़े टोली बनाकर राजा भगीरथ के समक्ष चलने लगे ॥ ७६ ॥

पताकिनीमूलचरो भगीरथः समन्त्रिवर्गैश्चतुरैरतर्क्यत ।
अनुद्रुतः प्राक्चिरमभ्रगङ्गया स्वयं च तां किंचिदनुद्रवन्निव ॥७७॥

पहले सुरनदी ने राजा भगीरथ के पीछे-पीछे चलती हुई उनका अनुसरण किया था इस समय वे राजा भगीरथ स्वयं चतुरङ्गिणी सेना के पीछे पीछे चल रहे हैं। इस प्रकार राजा के चतुर मन्त्रियों ने विचार किया अर्थात् कभी उनका अनुसरण किया था आज वे स्वयं नदी की तरह सेना का अनुगमन कर रहे हैं ॥ ७७ ॥

योधैस्तरङ्गा ननु निष्पतद्भिर्भङ्गैश्च योधाननु धावमानैः ।
मिथो मृषा युद्धमिवाततान महार्णवस्तस्य बलार्णवेन ॥ ७८ ॥

प्रवाहित तरङ्गों वाले महा समुद्र और चतुरङ्गिणी सेना वाले राजा भगीरथ दोनों में उस समय मानों शक्ति-परीक्षण के लिये परस्पर युद्ध की तैयारी होने लगी ॥ ७८ ॥

प्राप्तोपगूहा इव वारिराशेः पर्यन्ततालीवनमर्मरेण ।
तरङ्गरेखाविलयान्तरेषु सेनारवाः शुश्रुविरे नृपेण ॥ ७९ ॥

समुद्र की तरङ्ग रेखा से बनी कन्दराओं में मानों सेना अपने छिपने का स्थान प्राप्त कर लिया और वहीं ताड़ पत्तों की मर्मर ध्वनि को सेना की ध्वनि की तरह राजा भगीरथ ने सुना ॥ ७९ ॥

दिव्यं पयः क्षोणितलेऽवतार्य संपन्नकीर्तिं तमिवानुकर्तुम् ।
भौमं रजो वाजिखुरप्रसूतं पताकिनी तस्य दिवं निनाय ॥ ८० ॥

स्वर्गीय जल को पृथ्वी पर उतरने से मानों राजा भगीरथ को मानों कीर्तिशाली बनाने के लिये चतुरङ्गिणी सेना ने अश्वखुरों से उठे धूलिकण को ऊपर देवलोक में प्रेषित कर दिया ॥ ८० ॥

सैनिकावतरदीर्घतरङ्गां संददर्श सरयूमविदूरे ।
सानुरागमुपगूहितुमग्रे संप्रसारितकरामिव देवः ॥ ८१ ॥

तदनन्तर सैनिकों के उतरने से लम्बी तरङ्गों वाली सरयू नदी को राजा भगीरथ ने समीप में ही अनुराग से आलिङ्गन करने के लिए फैलाये हाथों की तरह देखा ॥ ८१ ॥

ततो विलम्ब्य क्षणमागमय्य पताकिनीमप्यनुसंपतन्तीम् ।
स राजचिह्नैरुपसेव्यमानः शनैरयोध्याभिमुखं प्रतस्थे ॥ ८२ ॥

तदनन्तर कुछ विलम्ब के बाद क्षणमात्र में आयी हुई सेना को भी प्राप्त कर राजचिह्नों से विभूषित राजा भगीरथ धीरे-धीरे अयोध्या की तरफ चलने लगे ॥ ८२ ॥

तृष्णाकटुष्णं पतताममीक्ष्णं पौराङ्गनालोचनमण्डलानाम् ।
उत्सारणायेव स चामराभ्यां संवीज्यमानः शनकैरयासीत् ॥८३॥

दर्शन की प्यासी आखों वाली पुरवासिनी स्त्रियों को मानों हटाने के लिये शनकों के द्वारा चँवर हुलाये जाते हुए राजा ने अपने नगर को प्रस्थान किया ॥ ८२ ॥

तस्याग्रतो निर्मलमाबभासे साम्राज्यचिह्नं नवमातपत्रम् ।
पुरौकसां दर्शयितुं नृपेण नीतः कियानंश इवाभ्रसिन्धोः ॥ ८४ ॥

राजा भगीरथ के समक्ष उस समय साम्राज्य सूचक स्वच्छ छत्र सुशोभित हो रहा था मानों उसे राजा ने नगर वासियों को दिखाने के लिये गङ्गा के कुछ अंश को ग्रहण किया हो ॥ ८४ ॥

आलिप्तहर्म्याग्रपदं सुधाभिराबद्धहेमध्वजलोभनीयम् ।
संमृष्टरथ्यं च समन्ततोऽपि भगीरथस्तन्नगरं विवेश ॥ ८५ ॥

नगर की ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं को चूने से पोतकर उनके ऊपर आबद्ध सुन्दर स्वर्ण पताका फहराने लगी, रथमार्ग के चारों तरफ स्वच्छ हो जाने पर राजा भगीरथ ने प्रवेश किया ॥ ८५ ॥

पताकिनीभिः प्रविशन्तमन्तर्लाजैरवर्षन्पुरयोषितस्तम् ।
गङ्गावतारावसरे पुरेव दिव्यैः प्रसूनैर्दिवि देवकन्याः ॥ ८६ ॥

जिस प्रकार गङ्गावतरण के समय स्वर्ग (आकाश) से देवकन्याओं ने दिव्य पुष्प वृष्टि की थी उसी प्रकार नगर प्रवेश होने पर सेना सहित राजा भगीरथ के ऊपर पौराङ्गनाओं ने लाजा वर्षण किया ॥ ८६ ॥

आह्लादिभिर्मङ्गलतूर्यघोषैराशीवचोभिश्च समं जनानाम् ।
सौधाधिरूढैः शतशोऽवरोधैः संदृश्यमानः सदनं विवेश ॥ ८७ ॥

आह्लादक मङ्गल ध्वनि और लोगों के द्वारा प्रदत्त आशीर्वचनों के साथ तथा अट्टालिकाओं पर सैकड़ों व्यक्तियों से अवरोध पूर्ण देखे जाते हुये भगीरथ ने नगर में प्रवेश किया ॥ ८७ ॥

संभाव्य देवः क्रमशो द्विजातीन्बन्धूनमात्याननुजीविनश्च ।
द्वारान्तिकस्तब्धवधूसमाजसंबाधमन्तःपुरमाविवेशः ॥८८॥

राजा भगीरथ ने यथाक्रमानुसार विप्रबन्धु अमात्य तथा अनुजीवियों को पुरस्कृत करके द्वार के समीप आश्चर्य चकित बधुओं से व्याप्त अन्तःपुर में प्रवेश किया ॥ ८८ ॥

वियोगखिन्नास्तपसा विषण्णं स्वप्नेक्षिताः स्वप्नदशानुभूतम् ।
स्मेराननाः स्मेरमुखारबिन्दं तमभ्युपेयुस्तरुणं तरुण्यः ॥ ८९ ॥

वियोग से खिन्न तथा राजा भगीरथ को स्वप्न में देखने वाली सुमुखी तरुणियों के तपस्या से कृश किन्तु सुन्दर मुख कमल वाले स्वप्नदशा में जैसा अनुभव किया गया था उसी प्रकार राजा भगीरथ को प्राप्त किया । अर्थात् उनका मनोरथ पूर्ण हो गया ॥ ७९ ॥

पादे निपेतुः परिरभ्य दीर्घं तस्थुर्मुखैस्तस्य मुखं चुचुम्बुः ।
संकल्पयोगाच्चिरविप्रलब्धास्तथापितं नैव विशश्वसुस्ताः ॥९०॥

तरुणियाँ उस समय राजा भगीरथ के पैरों में गिर पड़ीं उनका गाढ़ालिङ्गन किया और अपने मुख से उनके मुख का चुम्बन किया यद्यपि मानसिक रूप से वे चिर समय तक वियुक्त रहीं तथापि उन्होंने उनकी उपलब्धि से इस समय वे चिर वियोग को भूल गयीं ॥ ९० ॥

संरक्षन्ननुजीविनो वितरणैः संप्रीणयन्नर्थिनः
पौराञ्जानपदानपि प्रतिदिनं पश्यन्दयादृष्टिभिः ।
आ वेधोगृहमा रसातलमपि स्वं नाम विश्रावय-
न्दीनत्राणकृता भुजेन बुभुजे देवः समस्तां भुवम् ॥ ९१ ॥

अनन्तर अनुजीवियों का संरक्षण करते हुये याचकों को अभीष्ट प्रदान से प्रसन्न करते हुये पुरवासियों को निरन्तर दयादृष्टि से देखते हुये आकाश पर्यन्त अपने नाम का विस्तार करते हुये दीनों का परित्राण करने वाली भुजा से राजा भगीरथ ने सम्पूर्ण पृथ्वी का भोग किया ॥ ९१ ॥

वाचं व्याकुरुते चिरन्तनगिरं मीमांसते चोभयीं
पान्थः काव्यपथेषु पादकमले सक्तः पुरारेरिति ।
मामेतत्कथयिष्यतीति रचितं काव्यं मया तत्पुन-
स्तावद्वक्ष्यति वा न वा तदुपरि न्यस्तः समस्तो भरः ॥९२॥

काव्य मार्ग में कवि पथिक लौकिक और अलौकिक वाणी की व्याख्या और गम्भीरता पूर्ण विचार करता है । यह नीलकण्ठ कवि तदनुसार व्याख्या और

गम्भीर विवेचन से शिव चरणों में अनुरक्त हो गया। यदि (ऐसी स्थिति में) मैं अपने इस काव्य को स्वरचित कहूँ या न कहूँ इस प्रकार का समस्त भार मैंने शिव चरणों पर रख दिया है ॥ ९२ ॥

साहित्यं न हि जानते कतिपये शास्त्रैकनिष्ठा यदि
क्षन्तव्यं विदुषामिदं कनु पुनः सर्वत्र सर्वज्ञता ।
उत्पन्नाः किल धूमकेतव इव क्लिश्नन्ति यत्साहितीं
दुर्वैदग्ध्यलवेन केचिदिह तद्दुःखाय विद्यावताम् ॥९३॥

शास्त्र में मात्र निष्ठा होने पर भी कुछ लोग साहित्य (सहितयोः शब्दार्थयोर्भावः साहित्यम्) के मर्म को नहीं जानते। एतदर्थ विद्वानों को क्षमा करना चाहिए क्योंकि सर्वत्र सर्वज्ञता नहीं होती। किन्तु धूमकेतु (अग्नि) की तरह पैदाग्रसी कवि साहित्य को क्लिष्ट (कठिन) करते हैं ऐसे मूर्ख कवि निश्चय ही विद्वानों के लिये दुःखद होते हैं ॥ ९३ ॥

अस्पृष्टाः कलयापि दुष्कविकुलैरज्ञैरनाकर्णिता
ज्ञानाज्ञानवतां कदाप्यपतिता दूरे दुरूहाध्वनि ।
खेलन्तु श्रुतिसंपुटीचुलुकिताः स्वैरं रसज्ञैर्जनैः
प्रत्युक्तिच्यवमाननूतनसुधासाराः कवीनां गिरः ॥९४॥

अर्थावगति के अभाव से जो सद्-असद् का परिज्ञान करने वाले विद्वानों के लिये भी अधिकाधिक कठिन है मूर्ख कुकवियों की ऐसी अश्रुतपूर्व एवं कला रहित वाणी की अपेक्षा जिन उक्तियों में रस टपक रहा है ऐसी रसज्ञों के द्वारा श्रवण पान की जाती हुई सत्कवियों की वाणीविलासिता बढ़ती रहे ॥

इति श्रीनीलकण्ठदीक्षितप्रणीते गङ्गावतरणे भगीरथनगर-
प्रवेशो नामाष्टमः सर्गः ॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः

श्लोकानुक्रमणिका

श्लोक	सर्ग	संख्या
अंशुमानपि समेत्यं	२	७
अक्लिष्टपन्नग	५	६६
अख्यातपूर्वविजया	१	७६
अगृहीतविवेक	७	२
अग्रहीत्तोत्तरासङ्ग	४	१०
अङ्किताः किमपि	२	३७
अचमत्कृतसंदर्भ	१	१४
अचिन्ततोऽपि	४	४१
अचिन्तयित्वा कृति	३	७
अतो न किंचित्प्रति	३	१६
अतो न किंचिद्व्यव	३	४०
अत्यशेत स मुनीनपि	२	२५
अथ दृष्ट्वा स देवेशं	४	७१
अथ नदीमवगाह्य	८	५१
अथ नृपमधिरुढ	७	४०
अथ पतन्तममुं	८	३२
अथ परीत्य स	८	४७
अथ भगीरथदेव	८	२०
अथ रथादवतीर्य	८	४९
अथ संनिहितं	७	१
अद्भुतं किमपि द्वन्द्वम्	१	१
अथाद्रिशृङ्गादव	६	३१
अधिगोपय मैनमा	७	१८
अधुतसिद्धशिरो	८	४१
अनशनव्रतकर्षित	८	७
अनालम्ब्य सखीहस्त	४	५२
अनुसंधाय चण्डीश	४	८
अनुसृतः सरितैष	८	३
अन्तकान्धककन्दर्पं	४	६०
अन्धास्ते कवयो येषां	१	१७
अन्नमन्यदवमन्य	२	४९
अन्योन्यसंभेद	६	४७
अपचित्य रसाल	७	२०
अपहर्तुमुपायतो	७	२५
अपि प्रकृत्या यद	३	१२
अप्रतर्कितविधेय	२	१३
अप्रतर्क्यमसमीक्षि	५	५७
अप्राकृतपरंज्योति	४	९
अभिधाय वृषात्तूर्ण	४	९१
अभिषेकप्रियाणां	४	९०
अभ्यर्थये त्वामथ	६	१४
अभ्यसिश्चदमर	५	६१
अमुं पुमांसं परिहृत्य	३	३३
अमुक्ताहेमनेपथ्य	४	२९
अमृतं हृतवत्यसि	७	२९
अमोषणीयैरक्रव्यै	१	४४
अम्बापि संभ्रमासन्न	४	४३
अम्भोभरैराश्रम	६	६२
अयं हि मग्नश्चिर	३	३२
अयमगाहतशोष	८	३१
अयि लुब्धकताधि	७	३८
अलमेनमुदीक्ष्य	७	१५
अलङ्घ्य वाक्यैरथ	८	६४
अवमुच्य वतं सेन्दु	४	३१
अवसन्तममन्द	७	१३
अवितीर्णमहाग्रामैः	१	७७
अश्वमेधमकरोत्सगरो	२	३
अस्ति नन्वयमयुग्म	५	४

श्लोक	सर्ग	संख्या
अस्ति सारस्वतं चक्षुः	१	९
अस्त्वेवमासीद्यदि	६	१३
अस्पृष्टाः कलयापि	८	९४
अस्मिन्दयस्व रक्षेम	४	७०
अस्मिन्नन्यसाध्ये	४	८८
आ		
आकलय्य विबुधो	२	१०
आकृष्टयोः कुमारा	४	३०
आगतैरपि पश्चाति	२	४०
आगतोऽसि मदर्थं	४	८५
आगमैरप्यसंवेद्य	१	४१
आचान्तो नयनैरपक्ष्म	७	५०
आजन्मनः प्रबन्द्धृणा	१	१९
आतन्वतीमुज्झिततार	६	५५
आत्मार्हैः फलपुष्पा	४	७३
आदिभिक्षुगृहीर्णीं	५	४२
आननैर्हसितवाष्प	५	२७
आपाण्डरे चन्दन	८	६७
आपाततः स्वाद्विव	६	६३
आबद्धचचर्म वैयाघ्र	४	९२
आभाष्य गङ्गामवतार्य	६	४
आमन्त्र्य मूर्ध्ना प्रणतेन	६	२५
आमये यमके जाग्रत्	१	३०
आमोदिभिर्वचः	१	४७
आयतोद्ग्रीविकाखि	४	५१
आयासमीदृशं यत्त्वं	३	८९
आरुरोहगिरि	२	३४
आरोपयन्निव स्वैर	४	५४
आलिप्तहर्म्याग्र	८	८५
आविरिञ्चिगृहमा	५	४६
आशरीरपतनं	२	१६
आश्रमं नगरमा	२	२३
आसाद्य मन्त्राक्षरमेक	६	५९

श्लोक	सर्ग	संख्या
आसीद्भगीरथो	१	६०
आस्तां हिमाद्रौ श्वसुरे	६	१२
आह्लादिभिर्मङ्गल	८	८७
इ		
इतिकर्णपुटेन पार्थिवः	७	२३
इति क्षितीशं प्रति वो	३	५२
इति क्षितीशः प्रणि	३	४१
इति जह्नुसुतास्तवोक्ति	७	३५
इति तुर्यन्तसिद्धान्त	४	८२
इति प्रसन्नमधुरं च	३	१३
इति स्तुवन्मुकुटनिवे	७	४८
इत्थं चमत्कारतरङ्गि	६	१९
इत्थमूर्च्छिषि मुनौ	२	१८
इत्थमुद्धतमुदीर्य सा	५	११
इत्याज्ञापयति स्वामि	४	८४
इदं तु सिद्धं हिमशैल	३	३६
इयता क्रमितुं शक्या	४	२
इयदुच्चलितापि जा	७	११
इयमप्यपरा वराकि	७	१२
उ		
उचितज्ञतया तस्मिन्	१	६७
उचितेष्वदिशद्दृष्टि	१	६६
उत्तरीयमहरत्कुच	२	३९
उद्गताभिरितरेतर	५	४४
उद्यतां किमपि वक्तु	२	११
उद्यतान्गदितुमापगा	५	१४
उपनिपत्य पुरेव पिपास	८	१०
उपरि न्यस्य संव्यान	४	४०
उन्मीलयन्दृशौ किंचित्	४	६३
उष्णमम्बु रविरुग्र	३	५१
ए		
एकैकमस्याश्चुलुकं	६	६६

श्लोक	सर्ग	संख्या
एकैकां क्रमभाविनी	१	८४
एतावदायस्यसि	६	३४
ऐ		
ऐश्वर्यलोभात्स्वमु	६	६४
क		
कञ्चुकाहरणातङ्क	४	१३
कठोरधाराङ्कुशपात	८	७५
कठोरसौरातपतापवि	३	५६
कतिचिदच्युतमञ्च	८	४०
कथं कथं धिग्धिगिदं	३	३८
कथंचिदेनःकपिलापराध	३	२३
कनकभूधरमूलमणि	८	३४
कन्यकास्ति कुटिलेति	२	९
कन्या तवेयं भविते	६	४१
कपर्दममरापगा	५	६४
कपालानि शिरःस्थानि	४	६८
कपिलकोपहुताशन	८	४८
कर्णयोर्यदि पतेयु	५	१०
कल्पनेत्यस्ति तत्	१	६
कल्पान्तोद्भ्रान्तजीमूत	४	३६
कल्पावसानेषु चतु	६	८
कवलितास्तिमिभिः	८	१६
कवितामफलद्वीटी	१	४
कान्तः सहृदयो वाचः	१	३
कामं शिक्षितसंचारा	४	४४
कामिनः पथि तलेषु	२	३८
कालकूटमिव मन्यते	५	८
कृत्वा सव्यपदं लक्ष्म्याः	४	५३
किं त्यक्तं युवभिर्धर्मे	४	१४
किं प्रपासु कुहचित्	२	४१
किं मदक्षणोरयं दोषः	१	२५
किं स पूर्वमपि नाजयद	२	२७
कियत्यसौ तात वियन्नदी	३	४२
कियदितश्चलितव्य	८	५
कियदिदं परिपूरयितुं	८	२२
कियन्ति पीतानि	६	९
कुतः प्रतिष्ठते देवः	४	५६
कुर्वती श्रवणे वाणी	१	५२
केयमार्द्रयति मस्तकं	५	५५
कैवल्योपनिषद्घुष्टं	४	८१
कोपलेशपरुषैरवज्ञया	५	५०
क्रुद्धान्नन्दिकरोद्धूत	४	४७
क्वचन भानुसुताद्वि	८	१७
क्वचित्तन्ती क्वचि	६	२७
क्वनु नाम सभाराज्ञां	१	२३
क्वायं क्व शम्भुस्तदपि	४	७४
क्वायं मुनिः क्षत्रकुल	६	३८
क्षितिभृतः कुलिशा	८	१५
ग		
गङ्गया यः पुरास्नातो	१	४३
गङ्गोर्मिभिर्मन्दमनु	६	२६
गच्छन्पुरस्तस्य रथो	६	४४
गर्भेष्वाप्रपदीनाना	४	१२
गाधभाजि गतविक्रियं	५	२३
गुणं सन्तमसन्तं वा	४	७६
गोवर्धनधरस्यापि	१	६२
ग्रस्ताजटाभिः प्रथमं	६	६७
ग्रस्तोदकायां मयि	६	३०
ग्रहस्तवायं यदि तात	३	२०
च		
चचार कर्णद्वयसानु	८	६८
चण्डमारुतचलन्मृदु	२	३१
चण्डीशताण्डवालोक	४	३७
चन्द्रचूडकरालम्ब	४	४५

श्लोक	सर्ग	संख्या
चन्द्रशेखरसव्याङ्ग	१	५८
चरमं ववृषे भगीरथः	७	५
चिरनिरुद्धमनोरथ	८	६
चिरमनेन पथा	८	१६
चुलुकितो मुनिनापि	८	३०
ज		
जटा नमो वभ्रिर	६	१५
जटाललाटानल	६	१६
जटिलोऽसिदिगम्बरोऽसि	७	४०
जातः कोपो न भृत्येषु	१	७०
जातमित्यथ समीप	५	६३
जातैव नीता विबुधै	६	४०
जना नीराजनीयास्ते	१	३५
जानीमो ज्यायसी	१	२८
जयन्ति तनयास्तस्य	१	४६
त		
तं कदाचिदुपसृत्य	२	५८
तं तुरङ्गमपि यद्दहशुस्ते	२	६
तज्जटापटलकन्दरो	५	५६
तज्जटासु विशती	५	५८
तज्जलभ्रमिभिरा	५	४०
तज्जवादुपहतं	५	५४
तटेषु तत्तज्जगदण्ड	३	६७
ततः प्रणामैः	३	१
ततः प्रदक्षिणीकृत्य	४	७२
ततः समामन्त्र्य	८	५८
ततश्चिरादेत्य	८	५६
ततो जटाभिर्गिरिश	६	१
ततो बिलम्ब्य क्षण	८	८२
तत्क्षणं प्रमुदितः	२	५६
तत्प्रवाहमुखवल्ग	५	४६
तत्समानप्रभावस्य	१	४८
तत्सुतोऽपि न ददर्श	२	१७
तथापि तद्दुर्विनयो	४	३०
तथाप्यद्यत्वदीया	४	८६
तदानकध्वानत	८	७२
तनया इव मातरं	७	२४
तनुच्छदासञ्जित	८	७६
तपसा लभ्यतां तस्या	१	५५
तपसाराधिता	४	८७
तपोभिरल्पैर्दयते	३	५१
तपोविपाकेन	८	६१
तपो विशुद्धे हृदये	३	६०
तप्यमाने तथा तस्मिन्	४	६
तमनुप्रहिणोषि किं	७	१०
तमसि तत्कुहरो	८	९
तरुणे शरदिन्दुसुन्दरे	७	१७
तव भगीरथ वत्स	८	५७
तस्य पश्चमशिरो	५	५३
तस्य प्रतिश्रुत्य	२	६४
तस्याग्रतो निर्मल	८	८४
तस्यान्तः पुरुषं केचित्	४	६४
तस्यान्वये महत्यासीत्	१	३६
तस्यासन्प्राक्तना एव	१	७३
तस्मिन्दुर्जनदुर्धर्षे	१	६८
तां जह्नुकोपाद्व्यसनं	६	४३
तान्येव यादांसि	६	२२
तापमातपतरङ्गित	२	३२
तामापतन्तीमवनौ	६	२३
तापितासु नयनाग्नि	५	६२
तावतस्तपसो दातुमपश्यन्	४	३६
तारिता वयमिमां	५	२४
तिष्ठतस्तपसि तस्य	२	५७
तीरसीमनि स दक्षिण	२	२१
तुष्टो विरिञ्चः प्रससाद	१	२

श्लोक	सर्ग	संख्या
तृष्णाकदुष्ण पतता	८	८३
तेषामहं द्वितीयोऽस्मि	१	५०
तौ परस्पर महःपरिणाम	२	५४
त्यक्तावशिष्टं कियद	६	५१
त्र्यन्तसिद्धा	६	५२
त्रासिताः किल	५	१३
त्रिदशास्तच्छिरो	४	३३
त्रिमूर्तिजननी	४	७९
त्रिपुरेषु परीक्षितं	७	४६
त्वं गतिस्त्वन्मयं	४	७५
त्वत्प्रसूतमवतो	२	६०
त्वत्प्रसूतोहरिर्या	४	७८
त्वद्गृहे स्थितवती	५	६
त्वरन्नुषिताः सुखेन	७	२१
त्वादृशाजनिमता	२	६१
द		
दयालुरथ भूतेषु	१	६४
दशमुखोऽपि	८	५५
दहतीव विधौ वन	७	२२
दातुं प्रवृद्धश्चन्द्रोऽपि	१	८१
दातुमम्बुपरिपारण	२	८
दिवौकसः पाणि	८	७४
दिव्यं पयः क्षोणितले	८	८०
दिश देवि सुतान्	७	२७
दिश नः प्रणतेव	७	२८
दिष्टया निपीता	६	१०
दुर्दान्तत्रिपुरप्लोष	४	६७
दूयामहे दुष्कवि	१	३३
दूषणाय न काव्यानां	१	२१
दृगन्तरान्धंकरणं	८	७२
दृष्टानि कौमार	६	२९
दृष्टयानुकम्प्यान्	३	६२

श्लोक	सर्ग	संख्या
देवोऽपि स्वयमां	४	४६
द्रवीभवद्भिः क्वचिदा	३	५९
द्वौ हि तेजस्विनौ	४	२१
ध		
धर्मधर्मिभिदापन्नं	४	८०
धूलधूसरिता	४	२४
ध्वंस्यमानेषु	४	१८
न		
न दण्डद्यं मुमुचे	१	६५
न देवताभिर्न	३	३७
ननु दृष्टिपथे	७	१४
न पातुमम्भो	३	२१
न प्रणामस्वनै	२	४४
न यदाह मनुर्वध्यात्	१	२९
न लक्षणेषु निष्कर्षौ	१	१२
नरपते र्दधतीव	८	२
न वक्तुमीशे	३	२५
न विधुरस्ति न	८	३९
न विमुञ्चसि	७	३४
न सगरोऽयमवि	८	५३
नाकेऽपि सति	१	४६
नाजपं किमिति	५	२६
नान्नमद्रियत	२	३०
नारायणाध्वरीन्द्राय	१	५
नार्थमुल्लिखितुं	१	२०
नास्ति मन्द	२	४८
नाहमासं नृपः	१	३१
निदाघ एव यत्रत्यः	४	२६
निम्नभागविनि	५	४१
निःशङ्कं न प्रवृत्तो	१	३७
निगमैस्तव	७	३१
निर्गतत्रिदशनाथ	५	३२

श्लोक	सर्ग	संख्या
निर्बन्धक्लान्तभूषा हि	४	२६
निर्विद्य किंचिन्नृप	६	५
निवेद्यते यद्यपि	३	३९
निष्प्रभो यद्रविर्ज	४	२५
नृपतिस्त्रिजगद्दाह	४	३२
प		
पठन्ति यस्यामथ	६	५८
पतति तत्र सुधाश	८	४४
पतत्युदारे पयसां	३	५
पताकिनीभिः	८	८६
पताकिनीमूलचरो	८	७७
पतितव्यं हिमै	४	२३
पतितामिह कर्णिकां	७	८
पतिभिया निपतेयु	८	१३
पतेयमभ्यर्थित सा	३	८
पथि चचाल	८	४
पथि दिव्यनदी	७	६
पथि विलम्ब्य	८	७
पदं किमेतावदु	१	८२
पदेन किंचिच्च	८	७१
पद्भ्यामेवोप	४	४८
पयसि संभृत एव	८	२६
परिज्ञातं तत्त्वं	१	८५
परिपतत्सु ततः स	८	४३
परिपाकोन्मुखे	४	३४
परिभ्रमद्गन्ध	३	६२
पाकशासनपुर	५	३९
पाणिभ्रमित	४	५५
पातिव्रत्यक्रमः	१	३२
पादे निपेतुः	८	९०
पादे पतन्ती	६	२८
पीतं पयोवह्नि ति	६	१७
पुराणवेणु	३	५८
पुरा पतन्ती	६	३६
पुरामुकुन्दाय	३	४४
पुष्णन्तु स्वेति	१	२६
पौरजानपद	२	१
प्रकृत्या कुटिलो	४	१५
प्रख्यापितं प्राक्	८	६३
प्रणमदमरग्राम	५	६७
प्रणाममात्रसंप्रीतः	१	७२
प्रणाममूर्धन्य	३	४७
प्रति नवाम्बुद	८	११
प्रति निदाघ	८	१२
प्रति प्रयाते	३	५४
प्रत्यहं प्रमथा	४	३८
प्रथमलब्धसुरा	८	५१
प्रथमाभासिता	४	२८
प्रददावेव सो	१	७९
प्रदर्श्यतां कस्य	३	९
प्रभुं प्रशान्तं	२	४८
प्रमथनाथ जटा	८	४५
प्रलयेष्वपि ये न	७	४
प्रवर्तते पावयितुं	६	४५
प्रवसतो विनिवर्तं	८	३५
प्रविशतीषु रसा	८	४६
प्रविष्टमात्रश्रुति	३	५३
प्रविष्टमात्रास्वपि	३	२
प्रवेष्टुमभ्रेण पथा	३	११
प्रशान्तं पावनं	४	६१
प्रवेशिताः स्फा	३	६८
प्रसादयामास	६	७
प्रसाद्यमाना	३	१७
प्रसूतिमीशान	३	४६
प्राक्तनेषु तुषारेषु	४	२७

श्लोक	सर्ग	संख्या
प्रागलब्धं वि	४	५६
प्राङ्मज्जयन्ती	६	५७
प्राचेतसेन या	१	३६
प्राणिनां प्रति	५	१७
प्राणिमात्रपरि	२	५०
प्रान्तसंक्रमित	५	१
प्राप्य जानुमति	५	१८
प्राप्य शंकरकपर्द	५	४७
प्राप्य सानुपद	५	३६
प्राप्तोपगूहा इव	८	७६
प्रियतमाभिगमाय	८	१४
फ		
फणधरालयमूल	८	३३
फालानलशिखो	४	१७
फूत्कृतै रजहद्रूष्म	२	४३
फेनिलाः सलिल	५	२५
ब		
बद्धस्रस्तकपर्दं	४	६५
बभौ तेन समुत्क्षिप्तो	४	३
बाहुजोऽयमथ	२	२८
बिभर्ति यः स्फाटिक	३	६६
भ		
भक्तार्पिताभिः	३	१८
भक्त्या कृतेति	१	५६
भक्त्या परित्यज्य	६	५०
भगिनी समा	४	६४
भगीरथमुखाद्	१	५७
भर्तुं स्वमेकं	६	६५
भवबन्धहरोऽस्मि	७	४४
भव भूतपते	७	१७
भस्माङ्गरागाः	६	५४
भानुभिः प्रलयः	२	३५
भान्ति शिष्याः	१	५३
भारतीपरिवृढ	२	६२
भारतीषु कवीन्द्राणां	१	१३
भिन्दन्तमद्रीन्	३	४६
भुग्नभारेण	४	५७
भुवनत्रयभार	७	४२
म		
मदनान्तकविष्ट	७	३६
मदम्बु संपा	३	३
मदुक्तयुक्त्या	३	१८
मदूर्मिवेगाप	६	३३
मधुरिमैकरसा	८	२४
मन्दाकिनीमज्जन	८	६५
मन्दिरं फण	२	४
मन्दुरोदरविमुक्त	५	३१
मभ्रुः कुन्देषु	४	२०
मध्यागताया	६	६१
मरुद्भिरेकान्त	२	५५
महर्षिरोष	३	४
महात्मतां	३	१५
महीधरैर्मन्दर	३	३४
महेशभूषा हि	३	६५
मारुतो न	२	४५
मुक्तदिव्यतरु	५	४३
मुनिरस्ति	१	३८
मुमूर्षमाणा	३	२८
मूकोऽपि मुख	१	५६
मूर्ध्नि तस्य मुहु	५	६०
मोक्तुं नदीमान	६	२०
मौलौ निवासा	६	३२
य		
यं विद्म इति	१	४५
यत्ततः स गिरि	२	४

श्लोक	सर्ग	संख्या
यत्तत्तवानसि	४	८३
यदभजन्त दिवं	८	५६
यदंशलेशाव	३	४३
यदस्ति विश्वं	३	४५
यदस्य युद्धेषु	१	८३
यदाप्तिहेतो	३	४९
यदित्वलङ्घ्यं	३	२६
यदीदमेवेच्छसि	३	२२
यदीय नीहारकणा	३	६३
यद्गजेषु तुरगेषु	२	२९
यात यूयमपयात	५	१२
यामभ्युपेताः	६	६३
यामापतन्तीं	६	३७
यावदानमयते	५	५१
यावदित्थमधि	२	२६
यावद्व्योमविट	५	६५
ये शुश्रुवुर्गर्वं	६	२१
योर्धस्तरङ्गा ननु	८	७८
र		
रविकरोपनिपात	८	१८
राजर्षि रेको	६	३९
रुद्धा चिरं य	३	४२
व		
वक्रचंक्रमण	२	३३
वक्रसौधवलभी	५	२०
वसन्त इव हेमन्तो	४	१८
वसवो बहवो	७	३०
वहसीन्दुमनेन	७	४५
वाचं व्याकुरुते	८	९२
वारिविभ्रममहो	२	५३
वार्तिकाभरण	१	५१
वाहनारोहविस्र	४	५८

श्लोक	सर्ग	संख्या
विकचाम्भोरुहां	४	३५
विचारयामो यदि	३	३५
विचिन्तमयन्नभ्र	३	२७
विज्ञप्तिः श्रूय	१	३४
विदुषां मत्सरग्रन्थि	१	१८
वितरिष्यसि काङ्क्षिता-निति	७	२६
विधित्रयी यदा	१	४०
विनया नम्रजम्भारि	४	४२
विना सशपथैः	४	११
विन्ध्योगिरिः	६	४९
वियोगखिन्ना	८	८९
विशङ्कलङ्केश	३	६६
विषादमभ्येमि	३	१०
विश्वसर्गचतुरो	५	२१
वीचिमारुत	५	५६
वीचिवेगपरि	५	४५
वैजयन्तविनि	५	३५
वैरायतां वि	१	७१
व्यङ्क्तुमस्फुरितो	१	२४
व्यजनैः प्रान्त	४	४९
व्यासमेव स्तुमो	१	२
व्योम्नि तल्लहरि	५	३९
श		
शक्यमञ्जलि	२	३६
शङ्कितो जगदकाण्ड	५	९
शतशः परितोष्य	७	३६
शरार्कधुर्धूरवती	३	७०
शापकोपकलुषेव	५	५२
शीलिते कवि	१	८
शृण्वन्तोऽपि	१	११
श्रीकण्ठदेशिक	१	४२
श्रुतिगिरोऽपि	८	५४

श्लोक	सर्ग	संख्या
ष		
षडङ्गमातृका	४	७
षष्ठांशं जगृहे	१	४७
स		
संग्रामाङ्गणमारुढः	१	७८
संध्यासु दिष्टचा	६	३
संनिवृत्य सदस	५	१५
संपपात हरि	५	३३
संभाव्य देवः	८	८८
संभृता मनसि	५	२
संभ्रमोपगत	५	३०
संरक्षन्ननुजीविनो	८	६१
संव्यानमूर्मि	२	६५
संश्रान्तो हिमवर्षेव	४	१६
सकृदत्र समेयुषां	७	४७
स क्षणादजय	२	२४
सखि कर्षसि किं	७	६
सगरनन्दन	८	२७
स च तत्रान्तरे	४	६२
सति फणावलया	८	३८
सति महाकरणे	८	४२
सति सरस्वति	८	२१
सति सह्यसुता	१	५४
सति हेमगिरौ	७	४४
सत्यर्थे सत्सु	१	१०
सत्यलोककुहर	५	२२
सत्यलोकमप	५	२८
सत्यविश्रम	२	४२
सदयं सानुरागं	१	६१
स दुग्धसिन्धु	८	६६
सदनमेत्य स	८	३७
स पादमूलग्रथिता	८	६९
स पौरान्पाद	१	६३
स प्रकामजरठो	५	५
स प्रसङ्गकृत	२	२
स बाह्यकरण	६	१
समतिलङ्घ्यपुरी	८	१
समदवल्गद	८	२३
समधिकोष्मणि	८	२९
समानयेयं पुन	६	६
समुद्यतस्तस्य	८	६०
समुपलभ्य	८	२८
स यक्षविद्याधर	३	६४
स यावल्लालयामास	१	६९
सरिदन्तरसंग	७	१६
सर्वज्ञ शंकराभिख्य	४	७७
सर्वतः प्रचलितैः	५	३४
सर्वतः सुरतर	५	१९
सर्वरात्रमपि	२	४७
सव्यङ्गापि	१	२२
स सन्दर्भः	१	७
ससर्जकल्पादिषु	३	६
ससर्जयस्त्वा	३	१४
सस्तमंसतलात्	१	७५
सस्नौ जजाप	४	५
सहेत किं नाम	३	३१
सह्यानि चूडोरग	६	११
सा च वामन	२	१५
सा ततः प्रचलिता	५	३७
सा ततो गिरि	२	१२
सा तत्र सिन्धु	३	६०
सा तत्र सिन्धु.	६	२४
सा दिवि प्रमथ	५	३८
सा निवेदयितुमा	५	३
सानुरागबहुमान	५	४८

श्लोक	सर्ग	संख्या
सान्द्रस्तनपरीणाह	४	५०
साम्राज्यं यदि	१	८६
सायाह्लापचयेनापि	१	८०
सारूप्यभाजो	३	२६
सावलेपनभः	४	७३
सावलेपनिषत	५	७
सावलेपनिप	२	१४
सा वेगादथ	६	६८
साहित्यं नहि		
सुखमास्वपुरीह	७	३२
सुखावहो यः किल	३	५०
सुरसरित्कवली	८	५०
सुरसिद्धतापस	३	७१
सुराग्रजो यद्यपि	३	२६
सुरनदीं सलिला	८	२५
सुरापगास्रोतसि	३	१६
सुराः पुरोडाश	६	३५
सुशिक्षितस्त्वं	३	२४
सेत्स्यतीति	२	१६
सैनिकावतर	८	८१
सोऽथ जातु	२	२०
स्खलनात्क्वचिद्‌	७	७
स्तुत्यं न स्तुवते	१	२७
स्थविरैषु गतेषु	७	३

श्लोक	सर्ग	संख्या
स्थापिता कमल	५	१६
स्नातुमम्बु न	२	५५
स्वं च राज्य	२	२७
स्वच्छन्दप्रचर	६	६६
स्वतनूविषयामहं	७	३३
स्वतन्त्रखेलद्गिरि	३	६१
स्वयमुपेतसमीर	८	३६
स्वयमेव दिशन्	७	४१
स्वर्गः कस्यास्तु	१	१५
स्वर्गादमर्त्यान	६	४८
स्वस्तिकस्थगितो	४	२२
स्वात्मानन्द	४	४
स्वापकालमनु	२	५२
ह		
हतः श्लोको	१	१६
हारदाम्नि चन्दन	२	४६
हिमशैलनिषण्ण	७	१६
हिमस्पृशां यन्मरुतां	३	५७
हुंकृतेन कपिलस्य	२	६३
हृदयं वीतमालिन्यं	४	६६
हृष्टेन गङ्गा	८	७०
हेमकुम्भसलिल	२	२२
हेरम्बकन्धरा	४	६६

हमारे कतिपय प्रमुख प्रकाशन

प्राकृतप्रकाशः । संस्कृत हिन्दी टीका, सं० पं० जगन्नाथ शास्त्री होशिंग ३०-००

काव्यप्रकाशः । पं० हरिशंकर शर्मा कृत 'नागेश्वरी' टीका सहिता ।
सं० न्यायोपाध्याय पं० ढुण्ढिराज शास्त्री ४५-००

रघुवंशम् । मल्लिनाथ कृत 'संजीवनी' संस्कृत टीका तथा हरगोविन्द शास्त्री
कृत 'मणिप्रभा' हिन्दी टीका सहित संपूर्ण । २५-००

नाट्यशास्त्रम् । सं० पं० बटुकनाथ शर्मा एवं बलदेव उपाध्याय
संशोधित । संपूर्ण १००-००

काव्यालङ्कारः । भामह । पं० बटुकनाथ शर्मा तथा पं० बलदेव उपाध्याय
द्वारा भूमिका आदि सहित । २५-००

नलचम्पूः अथवा दमयन्ती कथा । चण्डपाल कृत 'विषमपद' टीका
श्री कैलाशपति त्रिपाठी कृत हिन्दी टीका, नोट्स, भूमिकादि सहित ४०-००

वाक्यपदीयम् । (ब्रह्मकांड) पं० श्री सूर्यनारायण शुक्ल कृत 'भाव-
प्रदीप' टीका तथा श्रीरामगोविन्द शुक्ल कृत हिन्दी टीका । २५-००

कादम्बरी । पं० कृष्णमोहन शास्त्री तथा आचार्य श्री रामचन्द्र मिश्र
कृत 'चन्द्रकला' संस्कृत तथा 'विद्योतिनी' हिन्दी टीका, नोट्स,
भूमिका आदि सहित । १-२ भाग संपूर्ण ८०-००

तर्कभाषा । आचार्य विश्वेश्वर शिरोमणि कृत हिन्दी टीका २५-००

वक्रोक्तिजीवितम् । श्रीराधेश्याम मिश्र कृत 'प्रकाश' हिन्दी टीका सहित ५०-००

शुक्रनीतिः । पं० ब्रह्मशंकर मिश्र कृत 'विद्योतिनी' हिन्दी टीका सहित ।
पंडितराज पद्मभूषण श्री राजेश्वर शास्त्री द्रविड कृत प्रस्तावना सहित ४०-००

दशरूपकम् । आचार्य श्री चरणतीर्थ महाराज कृत विस्तृत अंग्रेजी व्याख्या,
टिप्पणी, सुविस्तृत संस्कृत भूमिका आदि सहित । प्रथम प्रकाश १५-००

अलङ्कारसर्वस्वम् । जयरथ कृत 'विमर्शिनी' तथा डॉ० रेवा प्रसाद
द्विवेदी कृत हिन्दी टीका परीक्षांश २५-०० सम्पूर्ण ६०-००

चित्रमीमांसा । जगदीशचन्द्र मिश्र कृत संस्कृत हिन्दी टीका सहित ३०-००

काव्यालङ्कारसूत्राणि । आचार्य वामन कृत । डॉ० बेचन झा कृत हिन्दी
टीका युक्त । १५-००
तृतीय अधिकरण ३-००

नाट्यशास्त्रम् । प्रो० बाबूलाल शुक्ल शास्त्री कृत 'प्रदीप' हिन्दी टीका,
१-३ भाग २२५-००

मेघदूत । जगद्गुरु आचार्य श्री चरणतीर्थ जी महाराज कृत 'कात्यायनी'
संस्कृत टीका, आंग्लभाषानुवाद तथा विशद आंग्लभूमिका सहित २५-००

प्राप्तिस्थान—चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी-२२१००१